फ़े० एंगेल्स

समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक

विदेशी भाषा प्रकाशन गृह

दुनिया के मज़दूरो, एक हो!

Ramkumar Pandey
Banaras
7.6.61

फ़्रे० एंगेल्स

दर्शन
६

समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक

विदेशी भाषा प्रकाशन गृह
मास्को

विषय-सूची

१८९२ के अंगरेज़ी संस्करण की विशेष भूमिका

यह छोटी-सी पुस्तक मूलतः एक वृहत्तर ग्रंथ का अंग है। १८७५ के क़रीब बर्लिन विश्वविद्यालय के अवैतनिक सहायक प्रोफ़ेसर, डा०यू०डूरिंग ने यकायक और काफ़ी ज़ोर-शोर के साथ एलान किया कि वे समाजवाद के हामी हो गये हैं। उन्होंने जर्मन जनता के सामने एक विस्तृत समाजवादी सिद्धान्त ही नहीं, समाज के पुनर्गठन की एक सम्पूर्ण व्यावहारिक योजना भी रखी। स्वभावतः उन्होंने अपने पूर्वाधिकारियों को पानी पी पीकर कोसा और, सबसे बड़ी बात यह है कि, उन्होंने अपना सारा ग़ुस्सा मार्क्स के ऊपर उतारकर उनकी मरम्मत की।

यह लगभग ऐसे समय हुआ, जब जर्मन समाजवादी पार्टी की दो शाखायें, —आइज़ेनाख़वादी तथा लासालवादी*—अभी अभी एक हो गयी

---

*आइज़ेनाख़वादी और लासालवादी—१९ वीं शताब्दी की सातवीं दशाब्दी में और आठवीं दशाब्दी के आरंभ में जर्मन मज़दूर-वर्ग-आन्दोलन की दो पार्टियां।

लासालवादी—१८६३ में 'जर्मन मज़दूरों की आम संस्था' की स्थापना करनेवाले फ़र्डिनांद लासाल के अनुयायी।

आइज़ेनाख़वादी—मार्क्सवाद के समर्थक। इनपर कार्ल मार्क्स और फ़्रेडरिक एंगेल्स का वैचारिक प्रभाव था। विल्हेल्म लीब्कनेख़्त और

थीं, और इस प्रकार उन्होंने अपनी शक्ति बहुत अधिक बढ़ा ली थी। इतना ही नहीं, उन्होंने इस समूची शक्ति को अपने सामान्य शत्रु के विरुद्ध लगा देने की क्षमता भी प्राप्त कर ली थी। जर्मनी की समाजवादी पार्टी तेज़ी से एक शक्ति बनती जा रही थी। लेकिन अगर उसे एक शक्ति बनना था, तो उसकी पहली शर्त यह थी कि उन्होंने हाल में जो एकता हासिल की थी वह खतरे में न पड़ने पाये। लेकिन डा०डूरिंग ने खुलेआम अपने इर्दगिर्द एक गुट बनाना शुरू किया। इस गुट में एक भावी पृथक् पार्टी के बीज छिपे हुए थे। इसलिए यह ज़रूरी हो गया कि हमें जो चुनौती दी गयी थी, हम उसे स्वीकार करें, और हमारी इच्छा हो या न हो, हम यह लड़ाई शुरू करें।

यह काम चाहे बहुत मुश्किल न हो, लेकिन लंबा और पेचीदा ज़रूर था। जैसा कि सभी जानते हैं, हम जर्मन लोग ठोस गंभीरता के साथ काम करते हैं, इसे आप हमारी उग्र चिन्तनशीलता कह लें, या चाहें तो चिन्तनशील उग्रवादिता कह लें। हम में से जब भी कोई किसी ऐसे सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, जो उसकी दृष्टि में नवीन है, तब सबसे पहले वह एक सर्वव्यापी प्रणाली के रूप में उसका विस्तार करना

ऑगस्त बेबेल के नेतृत्व में उन्होंने १८६९ की आइज़ेनाख़ कांग्रेस के अवसर पर जर्मनी की सामाजिक-जनवादी मज़दूर पार्टी की नींव डाली।

मज़दूर-वर्ग के आंदोलन की प्रगति के फलस्वरूप इन दो पार्टियों का विलीनीकरण आवश्यक हुआ। यह विलीनीकरण १८७५ की गोथा कांग्रेस में संपन्न हुआ। इस समय जर्मनी की एक समाजवादी मज़दूर पार्टी की स्थापना हुई। इसमें लासालवादियों ने अवसरवादी पक्ष का प्रतिनिधित्व किया – संपादक

आवश्यक समझता है। उसे यह सिद्ध करना पड़ता है कि तर्कशास्त्र के प्राथमिक सिद्धान्त तथा सृष्टि के मूल नियम अनन्तकाल से इसीलिए चले आ रहे हैं कि अन्ततः उनकी परिणति इस नये आविष्कृत चरम सिद्धान्त में हो। और इस मामले में डा०डूरिंग जातीय मान से किसी माने में घटकर नहीं थे। एक सम्पूर्ण 'दर्शन-प्रणाली' — मानसिक, नैतिक, प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक, एक सम्पूर्ण 'अर्थशास्त्र तथा समाजवाद की प्रणाली' और अंत में एक 'अर्थशास्त्र का आलोचनात्मक इतिहास' — कुछ नहीं तो, अठपेजी साइज़ की तीन मोटी-मोटी पोथियां, बाहर से, और अंदर से भी भारी-भरकम, मानो सामान्यतः सभी पुराने दार्शनिकों तथा अर्थशास्त्रियों के, और विशेषतः मार्क्स के, ख़िलाफ़ तर्कों के तीन सेना-दल खड़े कर दिये गये हों — दरअसल "विज्ञान में एक समूची क्रांति" ला देने की यह एक कोशिश थी — और मुझे इन सबसे निबटना था। देश-काल की धारणाओं से लेकर द्विधातुवाद तक, भूत और गति की नित्यता से लेंकर नैतिक विचारों की अनित्यता तक, डारविन के प्राकृतिक चुनाव के सिद्धांत से लेकर भावी समाज में युवकों की शिक्षा तक — मुझे हर संभव विषय की विवेचना करनी पड़ी। जैसे भी हो, मेरे प्रतिद्वंदी की व्यवस्थित व्यापकता ने मुझे इस बात का अवसर दिया कि मैं उनके विरुद्ध विभिन्न विषयों पर मार्क्स के और अपने विचारों को पहले से अधिक सम्बद्ध रूप में विकसित कर सकूं। यही मुख्य कारण था कि मैंने यह काम हाथ में लिया, अन्यथा यह काम बिलकुल अकृतज्ञतापूर्ण होता।

मेरा उत्तर पहले समाजवादी पार्टी के मुखपत्र, लीपज़ीग के 'Vorwärts'*

---

* 'Vorwärts': गोथा विलीनीकरण-सम्मेलन के बाद जर्मन समाजवादी-जनवादी पार्टी का मुखपत्र। यह १८७६-७८ में लीपज़ीग से प्रकाशित होता था। — संपादक

नामक पत्रिका में एकलेख-माला के रूप में, और पीछे 'Herrn Eugen Dührings Umwälzung der Wissenschaft' ('श्री डूरिंग द्वारा विज्ञान में क्रांति') के नाम से एक पुस्तक के रूप में, प्रकाशित हुआ। इस पुस्तक का दूसरा संस्करण ज़ूरिच से १८८६ में प्रकाशित हुआ।

अपने मित्र, आजकल फ़्रांसीसी प्रतिनिधि-सभा में लिली के प्रतिनिधि, पाल लाफ़ार्ग के अनुरोध पर, मैंने इस पुस्तक के तीन अध्यायों को एक पैंफ़लेट की शक्ल दी। उन्होंने इस पैंफ़लेट का अनुवाद किया और उसे 'Socialisme utopique et Socialisme scientifique' के नाम से १८८० में प्रकाशित किया। इस फ़्रांसीसी पाठ से ही पोलिश और स्पेनिश भाषाओं के संस्करण तैयार किये गये। १८८३ में हमारे जर्मन बंधुओं ने इस पैंफ़लेट को मूल भाषा में प्रकाशित किया। तब से इस जर्मन पाठ के आधार पर इटालवी, रूसी, डैनिश, डच तथा रूमानियन भाषाओं में इसके अनुवाद प्रकाशित हो चुके हैं। इस तरह वर्तमान अंगरेज़ी संस्करण को लेकर यह पुस्तिका दस भाषाओं में प्रचलित है। जहां तक मुझे मालूम है, और किसी समाजवादी पुस्तक के, यहां तक कि १८४८ के हमारे 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' या मार्क्स कृत 'पूंजी' के भी, इतने अधिक अनुवाद नहीं हुए हैं। जर्मनी में इसके चार संस्करण निकल चुके हैं, जिनमें कुल मिलाकर २०,००० प्रतियां छप चुकी हैं।

पुस्तक का परिशिष्ट 'मार्क'* इस उद्देश्य से लिखा गया था कि जर्मन समाजवादी पार्टी के अंदर जर्मनी में भू-सम्पत्ति के इतिहास तथा

---

*मार्क—प्राचीन जर्मनी की ग्राम-पंचायत। एंगेल्स ने इस शीर्षक से 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' के पहले जर्मन संस्करण और पहले अंगरेज़ी संस्करण में, एक परिशिष्ट जोड़ दिया था, जिसमें उन्होंने जर्मनी के किसानों का प्राचीन काल से इतिहास दिया है।—संपादक

विकास का कुछ प्रारंभिक ज्ञान फैलाया जा सके। एक ऐसे समय में जब इस पार्टी में शहरों की मेहनतकश जनता को शामिल करने का काम क़रीब-क़रीब पूरा हो चुका था, और जब खेतिहर मज़दूरों और किसानों को हाथ में लेना था, यह और भी ज़रूरी मालूम हो रहा था। इस अनुवाद के साथ भी यह परिशिष्ट दे दिया गया है, क्योंकि भूमि संबंधी अधिकारों के वह मूल रूप, जो सभी ट्यूटानिक जातियों में समान रूप से पाये जाते हैं, और उनके पतन का इतिहास, इंगलैंड में जर्मनी की अपेक्षा भी कम ज्ञान है। मैंने इस परिशिष्ट के मूल रूप को अक्षुण्ण रखा है और हाल में मक्सीम कोवालेव्स्की ने जो प्रमेय सम्मुख रखा है, उसकी ओर संकेत नहीं किया है। इस प्रमेय के अनुसार, कृषि-योग्य भूमि तथा चरागाहों का मार्क के सदस्यों के बीच बंटवारा होने के पहले, उनमें एक विशाल पितृसत्तात्मक कुटुम्ब-समुदाय द्वारा सम्मिलित रूप से खेती होती थी। यह प्रणाली कई पीढ़ियों तक जारी रहती थी (दक्षिण-स्लाव 'ज़ाद्रुगा' के रूप में अभी भी इसका उदाहरण मिलता है)। बाद में, जब यह समुदाय इतना बड़ा हो गया कि सम्मिलित प्रबंध के योग्य न रह गया, ज़मीन का बंटवारा किया गया। कोवालेव्स्की की बात संभवतः बिलकुल सही है, लेकिन यह विषय अभी भी sub judice* है।

जहां तक अर्थशास्त्र के नये पारिभाषिक शब्दों का प्रश्न है, इस पुस्तक में जिन शब्दों का उपयोग हुआ है, वे मार्क्स के 'पूंजी' के अंगरेज़ी संस्करण में इस्तेमाल किये गये शब्दों से मेल खाते हैं। 'माल के उत्पादन' से हमारा तात्पर्य उस आर्थिक दौर से है, जिसमें वस्तुओं का उत्पादन उत्पादकों के व्यवहार के लिए ही नहीं, विनिमय के हेतु भी होता है, अर्थात् उनका उत्पादन माल के रूप में होता है, उपयोग-

---

* sub judice – विचाराधीन। – संपादक

मूल्यों के रूप में नहीं। यह दौर जब से विनिमय के लिए उत्पादन शुरू ही हुआ था, तब से लेकर आज तक चल रहा है, परंतु उसका पूरा विकास पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली के अंतर्गत ही होता है, अर्थात् उन अवस्थाओं में जब उत्पादन के साधनों का स्वामी, पूंजीपति, मज़दूरी देकर मज़दूरों को काम पर रखता है, उन लोगों को, जो एक अपनी श्रम-शक्ति को छोड़कर उत्पादन के सभी साधनों से वंचित हैं, और पैदावार की अपनी लागत से जितना ऊपर बेंचता है, वह सब हड़प लेता है। मध्य-युग से आज तक औद्योगिक उत्पादन के इतिहास को हम तीन दौरों में बांट सकते हैं: (१) दस्तकारी का दौर, जिसमें छोटे कारीगर-मालिक, थोड़े से कारीगर-मज़दूरों और शागिर्दों के साथ काम करते हैं और जहां हर मज़दूर पूरी चीज़ तैयार करता है। (२) कारखाने में उत्पादन का दौर जब कहीं ज्यादा मज़दूर एक बड़े कारखाने में एकत्र होकर, श्रम-विभाजन के सिद्धान्त के आधार पर पूरी वस्तु का उत्पादन करते हैं; हर मज़दूर उत्पादन की किसी एक आंशिक क्रिया को ही करता है और किसी वस्तु का उत्पादन तभी पूरा होता है, जब वह एक के बाद एक, सभी के हाथों से गुज़रती है। (३) आधुनिक उद्योग का युग, जब उत्पादन शक्ति से चलनेवाली मशीनों से होता है और जहां मज़दूर का काम सिर्फ़ इतना ही रह जाता है कि वह यांत्रिक साधन यानी मशीन के काम की देखभाल रखे और उसे ठीक करता रहे।

मुझे अच्छी तरह मालूम है कि इस पुस्तक की विषयवस्तु पर ब्रिटिश पाठकों के काफ़ी बड़े भाग को आपत्ति होगी। लेकिन अगर हम यूरोपियों ने ब्रिटेन के 'संभ्रान्त' लोगों के पूर्वाग्रहों का ज़रा भी ख़याल किया होता तो हम और भी गये-गुज़रे होते। हम जिस सिद्धान्त को 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' कहते हैं, इस पुस्तक में उसी का पक्ष लिया

गया है, और अंगरेज़ी पाठकों में से अधिकांश को तो 'भौतिकवाद' नाम से ही चिढ़ है। 'अज्ञेयवाद'* को सहन किया जा सकता है, परंतु भौतिकवाद को बिलकुल स्वीकार नहीं किया जा सकता।

और फिर भी सत्रहवीं सदी से इंगलैंड सभी प्रकार के आधुनिक भौतिकवाद की जन्मभूमि रहा है।

"भौतिकवाद इंगलैंड का औरस पुत्र है। ब्रिटिश 'स्कूलमैन' डंस स्कोटस पहले ही पूछ चुके थे, 'क्या भूत के लिए चिंतन करना असंभव है?'

"इस अलौकिक व्यापार को संभव बनाने के लिए, उन्होंने ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता की शरण ली, अर्थात् उन्होंने धर्म के माध्यम से भौतिकवाद का उपदेश दिया। इसके अतिरिक्त वह नामवादी थे। नामवाद** भौतिकवाद का पहला रूप था और मुख्य रूप से वह अंगरेज़ी स्कूलमैनों में प्रचलित रहा है।

"वास्तव में अंगरेजी भौतिकवाद के जन्मदाता बेकन थे। उनके अनुसार प्राकृतिक दर्शन ही सच्चा दर्शन है और इंद्रियानुभूति पर आधारित भौतिक विज्ञान इस प्राकृतिक दर्शन का सबसे मुख्य अंग है। प्रमाण के लिए वह अक्सर अनाक्सागोरस और उनके homoiomeriae का, डेमाक्राइटस और उनके अणुओं का हवाला देते हैं। उनके अनुसार हमारी

---

* **अज्ञेयवाद** (ग्रीक agnostos अज्ञेय, अज्ञात) — एक दार्शनिक मत, जो यह कहकर कि हम नहीं जान सकते कि हमारी संवेदनाओं से परे कुछ है भी या नहीं, भौतिक विश्व के अस्तित्व से इनकार करता है (अंगरेज़ दार्शनिक ह्यूम), या जो भौतिक वस्तुओं को जानने की संभावना से इनकार करता है (जर्मन दार्शनिक कांट)। — संपादक

** **नामवाद** — (लैटिन nomen नाम) मध्ययुगीन दर्शन की एक धारा रहा है जिसके अनुयायी यह मानते थे कि प्रजातीय अवधारणाएं मिलती-जुलती चीज़ों के नाम भर हैं। — संपादक

इन्द्रियां कभी धोखा नहीं देतीं और सारा ज्ञान उन्हीं से निकला है। समूचा विज्ञान अनुभव पर आधारित है और उसका काम है इन्द्रियों द्वारा प्राप्त तथ्यों की, अन्वेषण की एक तर्कसंगत प्रणाली से, जांच करना। अनुमान, विश्लेषण, तुलना, निरीक्षण, प्रयोग—इस तर्कसंगत प्रणाली के यही मुख्य रूप हैं। भूत में जो गुण निहित हैं, उनमें सबसे पहला गुण है गति। यह केवल यांत्रिक तथा गणित की गति के रूप में ही नहीं, बल्कि मुख्यतः भूत की एक प्रेरणा, प्राणशक्ति, तनाव—अथवा जैकब वेहमे की भाषा में कहें तो, 'qual'*—के रूप में।

"भौतिकवाद के पहले सृष्टिकर्त्ता बेकन के दर्शन में, भौतिकवाद के बहुमुखी विकास के बीज अवरुद्ध ही हैं। एक ओर तो भूत के चारों ओर ऐन्द्रिय, काव्यात्मक प्रकाश है और वह जैसे अपनी मनोहारी हंसी से मानव की संपूर्ण सत्ता को अपनी ओर खींचता है। और दूसरी ओर, सूत्र रूप में प्रतिपादित उनके सिद्धांत में क़दम-क़दम पर असंगतियां उत्पन्न होती हैं। उनके दर्शन में यह असंगतियां धर्म के क्षेत्र से आयी हैं।

"भौतिकवाद का जब और आगे विकास हुआ, वह एकांगी हो गया। जिस आदमी ने बेकन के भौतिकवाद को व्यवस्थित रूप दिया, उसका

---

* 'Qual' शब्द में श्लेष है, जो उसमें दार्शनिक अर्थ भर देता है। इसका शाब्दिक अर्थ है, यंत्रणा, एक ऐसी पीड़ा, जो किसी क्रिया को जन्म दे। इसके साथ ही रहस्यवादी वेहमे ने इस जर्मन शब्द में लैटिन शब्द qualitas (गुण) का कुछ अर्थ डाल दिया है। उनका 'qual' बाहर से पहुंचायी जानेवाली पीड़ा के विपरीत, वह क्रियात्मक तत्त्व है, जो उसके अधीन किसी वस्तु, संबंध अथवा व्यक्ति के स्वतःस्फूर्त विकास से उत्पन्न होता है, और फिर उसे बल देता है। (अंगरेज़ी संस्करण में एंगेल्स का नोट।)

नाम है, हाब्स। इन्द्रियजनित ज्ञान का काव्यात्मक सौरभ नष्ट हो जाता है, और वह गणितशास्त्री के निराकार अनुभव में बदल जाता है; रेखागणित को सर्वश्रेष्ठ विज्ञान घोषित किया जाता है। भौतिकवाद मानवद्रोही बन जाता है। यदि उसे अपने शत्रु, मानवद्रोही, अशरीरी अध्यात्मवाद को उसी के घर में पराजित करना है तो, भौतिकवाद को अपने शरीर को ताड़ना देनी होगी और तपस्वी बनना होगा। इस प्रकार वह ऐन्द्रिय से बौद्धिक रूप ग्रहण करता है, परन्तु इसी प्रकार, इसका परिणाम चाहे जो भी हो, उसमें वह संगति और व्यवस्था भी आती है, जो बुद्धि की विशेषता है।

"बेकन के काम को आगे बढ़ानेवाले, हाब्स, इस प्रकार तर्क करते हैं: यदि समस्त मानवीय ज्ञान इन्द्रियजनित है, तो हमारी अवधारणायें और हमारे विचार वास्तव जगत का आभास मात्र हैं, अपने इन्द्रियगम्य रूप से विच्छिन्न आभास। दर्शन इन आभासों को नाम भर दे सकता है। एक से अधिक आभास के लिए एक ही नाम चल सकता है। नामों के भी नाम हो सकते हैं। यदि एक ओर हम यह कहें कि सभी विचारों की उत्पत्ति इन्द्रियजगत में ही होती है, और दूसरी ओर यह भी कहें कि शब्द में शब्द से अधिक भी कुछ है, या यह कि जिन सत्ताओं को हम अपने इन्द्रियों द्वारा जानते हैं, और विशिष्ट या व्यक्तिगत रूपों में ही जिनकी स्थिति है, उनके अतिरिक्त ऐसी भी सत्तायें हैं, जिनका अस्तित्व विशिष्ट और व्यक्तिगत न होकर सर्वव्यापी है, तो यह अपने में एक विरोध होगा। जिस तरह अशरीरी शरीर कहना बेमानी है, उसी तरह अशरीरी वस्तु कहना भी। शरीर, सत्ता, वस्तु एक ही वास्तविकता के अलग अलग नाम हैं। **चिंतन को चिंतन करनेवाले भूत से पृथक् करना असंभव है।** यह भूत संसार में जितने परिवर्तन होते रहते हैं, उनका मूलाधार है। 'असीम' शब्द निरर्थक है, अगर उससे यह न समझा जाये

कि हमारे मस्तिष्क में जोड़ लगाते जाने की एक अंतहीन प्रक्रिया की सामर्थ्य है। हमारे लिए भौतिक पदार्थ ही वोधगम्य हैं, इसलिए हम ईश्वर के अस्तित्व के बारे में कुछ नहीं जान सकते। मेरा अपना अस्तित्व ही निश्चित है। हर मानवीय आवेश एक यांत्रिक गति है, जिसका आरंभ है और अंत भी। जो हमारे आवेग के विषय हैं उन्हीं को हम अच्छा कहते हैं। मनुष्य भी उन्हीं नियमों के अधीन है, जिनके अधीन प्रकृति है। शक्ति और स्वतंत्रता, दोनों ही एक हैं।

"हाब्स ने वेकन के दर्शन को व्यवस्थित रूप तो दिया, परन्तु वह वेकन का यह मूलभूत सिद्धांत कि इन्द्रिय-जगत में ही समस्त मानवीय ज्ञान की उत्पत्ति होती है, प्रमाणित नहीं कर सके। उसका प्रमाण लाक ने अपने ग्रंथ 'मानवीय समझ पर निवंध' में दिया।

"हाब्स ने वेकन के भौतिकवाद के सगुणवादी* पूर्वाग्रहों को छिन्न-भिन्न कर दिया; इसी प्रकार लाक के संवेदनावाद को अभी भी जिन बचे-खुचे धार्मिक वंधनों ने जकड़ रखा था, उन्हें कालिंस, डाडवेल, कावर्ड, हार्टले, प्रीस्टले ने तोड़ डाला। जो भी हो, व्यावहारिक भौतिकवादियों के लिए निर्गुणवाद** धर्म से छुटकारा पाने का एक सरल उपाय भर है।"***

---

* **सगुणवादी** – सगुणवाद के धार्मिक-दार्शनिक सिद्धांत में विश्व के सृष्टिकर्ता के रूप में एक सगुण ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार किया गया है। – संपादक

** **निर्गुणवाद** – एक धार्मिक-दार्शनिक प्रवृति जो सगुण ब्रह्म की धारणा को स्वीकार नहीं करती। लेकिन सृष्टि के आदि कारण के रूप में एक अवैयक्तिक सत्ता को स्वीकार करती है। – संपादक

*** मार्क्स तथा एंगेल्स द्वारा रचित 'Die Heilige Familie' (पवित्र परिवार), १८४५ में माइन तटवर्ती फ़्रांकफ़ुर्त से प्रकाशित, पृ० २०१-०४ (एंगेल्स

ब्रिटेन में आधुनिक भौतिकवाद की उत्पत्ति के बारे में कार्ल मार्क्स ने इसी तरह लिखा था। और उनके पूर्वजों को मार्क्स ने जो सम्मान दिया था, अगर आजकल वह अंगरेज़ों के मन को ठीक भाता नहीं, तो यह और भी अफ़सोस की बात है। फिर भी इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बेकन, हाब्स और लाक ही फ़्रांस के उस उज्ज्वल भौतिकवादी मत के जन्मदाता थे, जिसने बावजूद जल-थल पर उन सारी लड़ाइयों के, जिनमें जर्मनों ने, या अंगरेज़ों ने, फ़्रांसीसियों के ऊपर विजय पायी, अठारहवीं शताब्दी को, सबसे बढ़कर एक फ़्रांसीसी शताब्दी बना दिया—और यह, फ़्रांस की उस चरम क्रांति के पहले ही, जिसके परिणामों से, हम बाहरवाले, इंगलैंड और जर्मनी के लोग, अभी भी अभ्यस्त होने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इससे इंकार नहीं किया जा सकता। इस शताब्दी के मध्य में जो भी शिक्षित और सुसंस्कृत विदेशी इंगलैंड में आकर बस गया, उसकी आंख में अंगरेज़ी 'संभ्रान्त' मध्यवर्ग की धर्मान्धता और मूर्खता—और उस समय वह उसे धर्मान्धता और मूर्खता समझने को मजबूर था—बुरी तरह खटकती थी। उस समय हम सभी भौतिकवादी थे, या कम से कम, बहुत ज्यादा आजाद खयाल के लोग थे, और यह बात हमारी कल्पना से भी परे मालूम होती थी कि इंगलैंड के प्रायः सभी शिक्षित लोग तरह-तरह की असंभव, अलौकिक बातों में विश्वास करें, और बकलैंड तथा

का नोट) मार्क्स और एंगेल्स की इस पुस्तक का पूरा नाम है, 'Die Heilige Familie oder Kritik der Kritischen Kritik. Gegen Bruno Bauer und Konsorten.' (पवित्र परिवार, अथवा ब्रूनो बायर ऐंड कम्पनी के खिलाफ़, आलोचनात्मक आलोचना की आलोचना।) —संपादक

मैंटेल जैसे भूतत्वशास्त्री तक अपने विज्ञान के तथ्यों को इस तरह तोड़ें-मरोड़ें, कि वे बाइविल के सृष्टि-खण्ड की कल्पनाओं के बहुत ख़िलाफ़ न ज्ञान पड़ें। और अगर आप उस समय ऐसे आदमियों से मिलना चाहते, जो मज़हवी मामलों में अपना ज़ेहन इस्तेमाल करने की हिम्मत रखते हों, तो आपको अशिक्षित, और जैसा उन दिनों उन्हें कहा जाता था, 'मैले-कुचैले' लोगों के बीच – मेहनतकश जनता, ख़ासकर ओवेन के अनुयायी, समाजवादियों के बीच – जाना पड़ता।

लेकिन तव से इंगलैंड 'सभ्य' हो चुका है। १८५१ की प्रदर्शिनी ने इंगलैंड की द्वीपीय कूपमंडूकता के अंत की घोषणा की। इंगलैंड ने खान-पान, चाल-ढाल और विचारों में, धीरे-धीरे अन्तर्राष्ट्रीय रूप ग्रहण किया – यहां तक कि मुझे यह इच्छा होने लगती है कि कुछ अंगरेज़ी तौर-तरीक़े और रिवाज यूरोप में उतना ही फैलते, जितना दूसरे यूरोपीय आचार-विचार यहां फैले हैं। जो भी हो, इंगलैंड में जैतून के बढ़िया तेल के फैलने के साथ (१८५१ से पहले वह अभिजात वर्ग तक ही सीमित था) मज़हवी मामलों में यूरोपीय संशयवाद भी हानिकारक रीति से फैल गया, और हालत यहां तक पहुंची है कि यद्यपि अभी तक अज्ञेयवाद विलकुल वैसे ही यहां की 'अपनी चीज़' नहीं वन पाया है, जैसे इंगलैंड का चर्च, तो भी, जहां तक उसके सम्मानित होने का प्रश्न है, वह क़रीव-क़रीव वप्टिज़्म के स्तर पर पहुंच गया है, और 'ईसाई मुक्ति सेना' से तो वह यक़ीनन ऊपर है ही। ऐसी स्थिति में, मैं यह सोचे विना नहीं रह सकता कि नास्तिकता की इस प्रगति से जो लोग सचमुच दुःखी हैं और जो उसकी निंदा करते हैं, उन्हें इस बात से सान्त्वना मिलेगी कि यह 'नये, निराले ख़यालात' कहीं बाहर पैदा नहीं हुए हैं, रोज़मर्रा के इस्तेमाल की और वहुत-सी चीज़ों की तरह 'made in Germany' (जर्मनी के वने) नहीं हैं, वल्कि असंदिग्ध रूप से ठेठ अंगरेज़ी हैं, और यह कि दो सौ

साल पहले उनके अंगरेज़ जन्मदाता अपने आज के वंशजों से कहीं आगे बढ़ चुके थे।

और सचमुच लंकाशायर की अर्थपूर्ण भाषा में अज्ञेयवाद 'संकोचपूर्ण', या अपना मुंह चुरानेवाले भौतिकवाद के अतिरिक्त और है क्या? प्रकृति के विषय में अज्ञेयवादी की धारणा सम्पूर्ण रूप से भौतिकवादी है। समस्त प्राकृतिक जगत नियमों से अनुशासित है, और उसमें वाह्य हस्तक्षेप की विलकुल गुंजाइश नहीं है। परन्तु इसमें इतना वह और जोड़ देता है—ज्ञात जगत से परे किसी परब्रह्म की सत्ता है कि नहीं, इसका निश्चय करने का हमारे पास कोई साधन नहीं है। अब यह वात उस समय तो कही जा सकती थी, जब लैपलेस से नेपोलियन ने पूछा कि उस महान् ज्योतिषशास्त्री की 'Mécanique céleste'* संबंधी पुस्तक में सृजनकर्ता का उल्लेख तक क्यों नहीं किया गया, और उसने गर्व से उत्तर दिया, "Je n'avais pas besoin de cette hypothèse"** परन्तु आजकल विश्व की हमारी विकासवादी धारणा में, न किसी सृजनकर्ता का स्थान है, न शासक का। इस समूचे विद्यमान जगत से वाहर किसी परब्रह्म की वात करना ही विरोधपूर्ण है, और मुझे तो लगता है कि यह धार्मिक जनता की भावनाओं का व्यर्थ में अपमान भी है।

फिर हमारा अज्ञेयवादी यह भी मानता है कि अपनी इन्द्रियों से हमें जो सूचना मिलती है, हमारा सारा ज्ञान उसी के ऊपर आधारित है। परन्तु वह प्रश्न करता है, हम कैसे जानें कि हमें अपनी इन्द्रियों द्वारा जिन वस्तुओं की उपलब्धि होती है, हमारी इन्द्रियां हमें उनका सही चित्र देती

---

* P. S. Laplace, 'Traité de mécanique céleste' (लैपलेस का 'खगोलीय गति-विज्ञान का ग्रंथ'), १-५ खंड। पेरिस से प्रकाशित, १७९९-१८२५।—संपादक

** "मुझे इस प्रमेय की आवश्यकता न थी"।—संपादक

2—2503

हैं? और तब वह हमें बताता है कि जब वह वस्तुओं और उनके गुणों की बात करता हैं, उसका मतलब वास्तव में इन वस्तुओं और गुणों से नहीं होता—उनके बारे में वह कुछ भी निश्चित रूप से जानने में असमर्थ है—यह वस्तुयें उसकी इन्द्रियों पर जो प्रभाव डालती हैं, उसका मतलब केवल उन्हीं सें होता है। अब इस तर्क का केवल तर्क से उत्तर देना अवश्य कठिन है। परन्तु तर्क के पहले व्यवहार था। Im Anfang war die That।* और जब मानवीय उद्भावना-शक्ति ने इस कठिनाई की उद्भावना की, उसके पहले ही मानवीय व्यवहार ने उसे हल कर लिया था। किसी वस्तु के अस्तित्व का प्रमाण उसके व्यवहार में है। हलवे का प्रमाण इसमें है कि हम हलवा खाते हैं। हम इन वस्तुओं में जो गुण देखते हैं, उनके अनुसार जहां हम उनको अपने उपयोग में लाना शुरू करते हैं, हम अपने इन्द्रिय-ज्ञान को एक ऐसी कसौटी पर कसते हैं जो झूठी नहीं हो सकती। यदि यह इन्द्रिय-ज्ञान झूठा है, तो उस वस्तु से जो काम लेने की आशा हम करते हैं, वह भी झूठी साबित होती है। और हमारा प्रयत्न निष्फल होता है। परन्तु यदि हम अपने ध्येय को प्राप्त करने में सफल होते हैं, यदि हम देखते हैं कि यह वस्तु, उसके संबंध में हमारी जो धारणा है, उससे मेल खाती है, और हम उससे जो काम लेना चाहते हैं, वह उस काम आती है, तो यह इस बात का पक्का सबूत है कि इस हद तक, उसकी और उसके गुणों की हमारी उपलब्धि बाह्य वास्तविकता के अनुकूल है। और जब भी हम असफलता का सामना करते हैं, हमें साधारणतः अपनी असफलता का कारण समझने में देर नहीं लगती। हम देखते हैं

---

*'प्रारंभ में व्यवहार का ही अस्तित्व था'—गेटे कृत ट्रेजेडी 'फ़ाउस्ट' से।—संपादक

कि जिस उपलब्धि के आधार पर हमने काम किया, वह या तो अधूरी और सतही थी, या अन्य उपलब्धियों के फलों से असंगत रूप से मिली थी—और इसी को हम दोषपूर्ण तर्क कहते हैं। जब तक हम अपनी इन्द्रियों को अनुशासित रखने में, और उनका उपयोग करने में सावधानी बरतते हैं, और अपने व्यवहार को, उचित रूप से प्राप्त और प्रयुक्त इन्द्रिय-ज्ञान द्वारा निर्धारित सीमा के भीतर ही रखते हैं, हम देखेंगे कि हमारे प्रयोग के फल से यह सिद्ध हो जाता है कि हमारा इंद्रिय-ज्ञान, इंद्रियों द्वारा उपलब्ध वस्तु की विषयगत प्रकृति के अनुकूल है। एक भी ऐसा उदाहरण नहीं है, जिसमें हम इस परिणाम पर पहुंचे हों कि वैज्ञानिक रूप से नियंत्रित हमारा इंद्रिय-ज्ञान वाह्य जगत के विषय में हमारे मन में ऐसे विचारों को जन्म देता है, जो स्वभावतः वास्तविकता के प्रतिकूल हों, अथवा यह कि, वाह्य जगत और उसके विषय में हमारे इंद्रिय-ज्ञान में कोई स्वाभाविक असंगति है।

लेकिन इसपर नव-कांटवादी अज्ञेयवादी आते हैं, और कहते हैं—हमें किसी वस्तु के गुणों की सच्ची उपलब्धि हो सकती है, परंतु हम किसी भी ऐन्द्रिय अथवा मानसिक प्रक्रिया से वस्तु-अपने-में को समझ नहीं सकते। यह वस्तु-अपने-में हमारी समझ के वाहर है। हीगल ने वहुत पहले इसका उत्तर दिया था—अगर आप किसी वस्तु के सभी गुणों को जानते हैं, तो आप स्वयं उस वस्तु को जानते हैं; अगर कोई बात रह जाती है तो यही कि यह वस्तु हमसे वाहर स्थित है, और जब आपने अपनी इन्द्रियों द्वारा इस बात को भी उपलब्ध कर लिया तो आपने कांट की विख्यात Ding an sich (वस्तु-अपने-में) के शेषांश को भी ग्रहण कर लिया, और कोई बात बाक़ी नहीं रही। इसमें इतना और जोड़ दिया जा सकता है कि कांट के समय में प्राकृतिक वस्तुओं का हमारा ज्ञान सचमुच इतना आंशिक और विच्छिन्न था कि उनका यह सन्देह करना स्वाभाविक ही था कि इन

वस्तुओं में से हर एक के बारे में हमारा जो सूक्ष्म ज्ञान है, उससे परे, एक रहस्यमय वस्तु-अपने-में का अस्तित्व है। परन्तु विज्ञान की विराट प्रगति के कारण एक के बाद एक, यह अज्ञेय वस्तुयें ज्ञेय हुई हैं, विश्लेषित हुई हैं, इतना ही नहीं, पुनरुत्पादित भी हुई हैं, और जिस वस्तु का हम उत्पादन करते हैं, उसे अज्ञय हरगिज़ नहीं समझ सकते। इस शताब्दी के पूर्वार्द्ध के रसायन-विज्ञान के लिए कार्बनीय पदार्थ इसी तरह के रहस्यमय पदार्थ थे, पर अब कार्बनीय प्रक्रियाओं की सहायता के बिना ही, एक के बाद एक, इन कार्बनीय पदार्थों को उनके रासायनिक तत्वों से तैयार करने लगे हैं। आधुनिक रसायन-शास्त्री कहते हैं कि जहां हमने किसी भी पिण्ड (चाहे वह कुछ भी क्यों न हो) की रासायनिक बनावट को जान लिया, हम उसे उसके तत्त्वों से तैयार कर सकते हैं। हमें अभी उच्चतम कार्बनीय पदार्थों, अर्थात् अल्व्यूमिनीय पिण्डों की रासायनिक बनावट जानने में बहुत देर है, परन्तु कोई कारण नहीं है कि हम इस ज्ञान को प्राप्त न करें—चाहे इसमें शताब्दियां लग जायें—और उससे लैस होकर कृत्रिम अल्व्यूमेन उत्पन्न न करें। परन्तु जब हम यह कर लेंगे तब हम साथ ही कार्बनीय जीवन को उत्पन्न कर लेंगे, कारण अपने निम्नतम से लेकर उच्चतम रूपों में, जीवन अल्व्यूमिनीय पिण्डों के अस्तित्व का ही साधारण रूप है।

लेकिन यह औपचारिक मानसिक प्रतिबन्ध लगा लेते ही, हमारे अज्ञेयवादी की बातचीत और उसका पूरा रवैया ऐसा होता है जैसे वह घोर भौतिकवादी हो, और असलियत में वह है भी वही। वह कह सकता है कि जहां तक हम जानते हैं, भूत और गति, या जैसा आजकल हम कहते हैं, शक्ति, न तो उत्पन्न की जा सकती है और न नष्ट, परन्तु हमारे पास इस बात का प्रमाण नहीं है कि वह किसी भी समय उत्पन्न नहीं की गयी थी। मगर अगर आप उसकी इस स्वीकारोक्ति को किसी

ख़ास मामले में उसके ख़िलाफ़ इस्तेमाल करने की कोशिश करें, तो वह आपके दावे को उसी वक़्त ख़ारिज करवा देगा। In abstracto* वह चाहे अध्यात्मवाद की संभावना को मान ले, in concreto** वह उसे अपने पास फटकने नहीं देगा। जहां तक हम जानते हैं, और जान सकते हैं, वह आपको बतायेगा कि इस विश्व का न तो कोई सृजनकर्ता है और न शासक; जहां तक हमारा संबंध है, भूत और शक्ति न तो उत्पन्न की जा सकती है और न विनष्ट; हमारे लिए मन शक्ति का एक रूप है, मस्तिष्क का एक धर्म है; हम इतना ही जानते हैं कि यह भौतिक जगत शाश्वत नियमों से अनुशासित है, इत्यादि। इस प्रकार जहां तक वह वैज्ञानिक है, जहां तक वह कुछ जानता है, वह भौतिकवादी है; पर अपने विज्ञान से बाहर उन क्षेत्रों में, जिनके बारे में वह कुछ जानता नहीं, वह अपने अज्ञान को एक रहस्यमय रूप दे देता है, और उसे अज्ञेयवाद के नाम से पुकारता है।

जो भी हो, एक बात साफ़ मालूम होती है। यदि मैं अज्ञेयवादी होता तो भी यह स्पष्ट है कि इस छोटी-सी पुस्तक में मैंने इतिहास की जिस धारणा को चित्रित किया है, उसे मैं 'ऐतिहासिक अज्ञेयवाद' नहीं कह सकता था। धर्म में विश्वास रखनेवाले लोग मेरे ऊपर हंसते और अज्ञेयवादी गुस्से में आकर मुझसे पूछते कि क्या मैं उनका मज़ाक़ उड़ाने जा रहा हूं? इसलिए मैं आशा करता हूं कि ब्रिटिश 'संभ्रांत' वर्ग को भी बहुत ज्यादा धक्का नहीं लगेगा, अगर मैं इस धारणा को अंगरेज़ी में, और अंगरेज़ी के साथ और भी बहुत-सी भाषाओं में, 'ऐतिहासिक भौतिकवाद' का नाम दूं। इतिहास की गति की इस धारणा के अनुसार सभी महत्वपूर्ण

---

*कल्पना में। —संपादक

**यथार्थ में। —संपादक

ऐतिहासिक घटनाओं की महान् प्रेरक शक्ति और उनका अन्तिम कारण समाज के आर्थिक विकास में, उत्पादन तथा विनिमय-प्रणाली के परिवर्तनों में, और फलस्वरूप, समाज के विभिन्न वर्गों में विभाजन में, और एक दूसरे के खिलाफ़ इन वर्गों के संघर्षों में है।

मेरे ऊपर इतना अनुग्रह संभवतः और भी शीघ्र किया जाये, अगर मैं यह दिखा दूं कि ऐतिहासिक भौतिकवाद ब्रिटिश 'संभ्रांत' वर्ग के लिए भी हितकर सिद्ध हो सकता है। मैंने इस बात का उल्लेख किया है कि आज से चालीस या पचास साल पहले, इंगलैंड में आकर बसनेवाले हर सुसंस्कृत विदेशी की दृष्टि में अंगरेज़ी 'संभ्रान्त' मध्यवर्ग की धर्मान्धिता और मूर्खता – तब वह इसे धर्मान्धता और मूर्खता ही समझने को मजबूर था – बुरी तरह खटकती थी। अब मैं यह सिद्ध करने जा रहा हूं कि उस ज़माने का 'संभ्रान्त' अंग्रेज़ मध्यवर्ग इतना बुद्धू नहीं था, जितना वह एक होशियार विदेशी को लगता था। उसकी धार्मिक प्रवृत्तियों का कारण समझा जा सकता है।

जब यूरोप मध्ययुग से निकला, उसका क्रांतिकारी तत्त्व शहरों का उठता हुआ मध्यवर्ग था। उसने मध्ययुगीन सामन्ती संगठन के अन्दर अपने लिए एक सम्मानित स्थान बना लिया था, परन्तु यह स्थान भी उसकी विकासशील शक्ति के लिए बहुत संकुचित हो गया था। सामंती व्यवस्था के रहते मध्यवर्ग का, bourgeoisie (पूंजीवादी वर्ग का); विकास असंभव था, इसलिए सामंती व्यवस्था का पतन अवश्यंभावी था।

लेकिन सामंतवाद का महान् शक्तिशाली अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र रोमन कैथालिक चर्च था। उसने बावजूद अन्दरूनी लड़ाइयों के, समस्त सामंती पश्चिमी यूरोप को एक शानदार राजनीतिक प्रणाली के अंतर्गत एकजुट कर दिया था, और इस प्रणाली का सम्प्रदायवादी यूनानियों से उतना ही विरोध था, जितना मुस्लिम देशों से। उसने सामंती संस्थाओं के चारों

ग्रोर ईश्वरीय पावित्र्य का प्रभामण्डल फैला रखा था। उसने सामंती नमूने पर पदों की अपनी एक क्रमबद्ध व्यवस्था क़ायम कर रखी थी, और अंत में, कैथालिक जगत की पूरी एक-तिहाई भूमि का अधिकारी होने के नाते, वह स्वयं सबसे शक्तिशाली सामंती प्रभु था। इसके पहले कि ग़ैरमज़हवी सामंतवाद पर हर देश में और हर बात को लेकर आक्रमण किया जा सकता, उसके इस पवित्र केंद्रीय संगठन को नष्ट करना आवश्यक था।

लेकिन, मध्यवर्ग की प्रगति के साथ ही विज्ञान का शक्तिशाली पुनरुत्थान भी हो रहा था—ज्योतिष, गति-शास्त्र, भौतिक विज्ञान, शरीर-रचना, शरीर-विज्ञान—इन सब का अध्ययन-अनुशीलन फिर से आरंभ हुआ। और औद्योगिक उत्पादन के विकास के लिए पूंजीवादी वर्ग को एक ऐसे विज्ञान की आवश्यकता थी, जो प्राकृतिक वस्तुओं के भौतिक गुणों का और प्रकृति की शक्तियों की क्रिया पद्धतियों का निश्चय करे। अब, उस समय तक विज्ञान और कुछ नहीं, चर्च का विनीत दास था और धर्म द्वारा निर्धारित सीमाओं का उल्लंघन न कर पाया था, और इसलिए वस्तुतः वह विज्ञान था ही नहीं। विज्ञान ने चर्च के खिलाफ़ विद्रोह किया और विज्ञान के बिना पूंजीवादी वर्ग का काम नहीं चल सकता था, इसलिए पूंजीवादी वर्ग को इस विद्रोह में सम्मिलित होना पड़ा।

जिन बातों को लेकर उठते हुए मध्यवर्ग का संस्थापित धर्म के साथ टकराना लाज़िमी था, ऊपर उनमें से केवल दो का ज़िक्र किया गया है, लेकिन यह दिखाने के लिए इतना काफ़ी है कि रोमन चर्च के दावों के ख़िलाफ़ लड़ने में जिस वर्ग को सबसे सीधी दिलचस्पी थी, वह था पूंजीवादी वर्ग और दूसरे, उस ज़माने में सामंतवाद के ख़िलाफ़ हर संघर्ष को मज़हवी जामा पहनना पड़ता था और इस संघर्ष को सबसे पहले चर्च के ख़िलाफ़ चलाना पड़ता था। लेकिन अगर विश्वविद्यालयों ने और शहरों के व्यापारियों ने आवाज़ उठायी, तो

यह लाज़िमी था—और हुआ भी ऐसा ही—कि ग्राम देहाती जनता में, किसानों में उसकी गूंज, और ज़ोर की गूंज, सुनाई पड़ती, वही किसान, जिन्हें सर्वत्र अपने अस्तित्व तक के लिए अपने लौकिक तथा आध्यात्मिक प्रभुओं से संघर्ष करना पड़ता था।

सामंतवाद के विरुद्ध पूंजीवादी वर्ग के लम्बे संघर्ष की परिणति तीन शानदार, निर्णयात्मक लड़ाइयों में हुई।

पहली लड़ाई वह है, जिसे जर्मनी का प्रोटेस्टेंट सुधार-आंदोलन कहते हैं। लूथर ने चर्च के खिलाफ़ लड़ाई की जो आवाज़ उठायी, उसके जवाव में राजनीतिक क़िस्म के दो विद्रोह हुए। पहला, फ़्रांज़ फ़ान सिकिंगन के नेतृत्व में छोटे सामंतों का विद्रोह (१५२३) और इसके वाद १५२५ का महान् किसान-युद्ध। दोनों लड़ाइयां हारी गयीं और इस हार का मुख्य कारण, इन विद्रोहों में सवसे ज्यादा दिलचस्पी रखनेवाले दलों, शहर के पूंजीवादियों की दुविधा था। इस दुविधा के कारणों की चर्चा हम यहां नहीं कर सकते। लेकिन उसी घड़ी से इस संघर्ष ने, लक्ष्यभ्रष्ट होकर, स्थानीय राजाओं और केंद्रीय सत्ता के वीच संघर्ष का रूप ले लिया और इसका परिणाम यह हुआ कि जर्मनी अगले दो सौ वर्षों के लिए यूरोप के राजनीतिक दृष्टि से सक्रिय राष्ट्रों में न रहा। लूथर के सुधार-आंदोलन ने एक नये धर्म को जन्म दिया, एक ऐसे धर्म को, जो निरंकुश राज्यतंत्र के सर्वथा अनुकूल था। उत्तर-पूर्वी जर्मनी के किसानों ने जहां लूथरवाद को ग्रहण किया नहीं, कि वे आज़ाद किसान से अर्द्धदास ही वन गये।

लेकिन जहां लूथर असफल रहा वहां कैलविन की विजय हुई। कैलविन का मत उसके युग के सवसे साहसी पूंजीवादियों के उपयुक्त था। उसका नियतिवाद का सिद्धान्त इस वास्तविकता की धार्मिक अभिव्यक्ति था कि प्रतियोगितापूर्ण व्यापारिक जगत में सफलता या असफलता मनुष्य के कर्म या कौशल पर नहीं, वल्कि ऐसी परिस्थितियों पर निर्भर है, जिनपर

उसका कोई वश नहीं है। यह सफलता या असफलता उस व्यक्ति पर निर्भर नहीं है, जो इच्छा करता है या दौड़-भाग करता है, वल्कि अज्ञात और अधिक शक्तिशाली आर्थिक शक्तियों की कृपा पर निर्भर है। यह वात आर्थिक क्रांति के युग में और भी सही थी, एक ऐसे युग में, जब सभी पुराने व्यापारिक मार्गों और केंद्रों की जगह नये मार्ग और केंद्र क़ायम हुए थे, जब दुनिया के लिए भारत और अमरीका के मार्ग खुल गये थे, और जब अर्थशास्त्र के सवसे पवित्र विश्वास तक—सोना और चांदी के मूल्य तक—लड़खड़ाने और टूटने लगे थे। कैलविन के चर्च का विधान सम्पूर्ण रूप से जनवादी तथा गणतंत्रवादी था, और जहां ईश्वर के राज्य को ही गणतंत्र का रूप दे दिया गया हो, वहां इस लौकिक जगत के राज्य ही राजाओं, वड़े पादरियों और सामंतों के अधिकार में कैसे रह सकते थे? जहां जर्मन लूथरवाद स्वेच्छा से राजाओं का अस्त्र बन गया, कैलविनवाद ने हालैंड में एक गणतंत्र की स्थापना की और इंगलैंड में, और विशेषकर स्काटलैंड में सक्रिय गणतंत्रवादी पार्टियों की स्थापना की।

दूसरी महान् पूंजीवादी बग़ावत ने कैलविनवाद में अपना सिद्धान्त पहले से ही तैयार पाया। यह आंदोलन इंगलैंड में हुआ। शहरों के मध्यवर्ग ने इसका सूत्रपात किया और देहाती इलाक़ों के स्वतंत्र काश्तकारों ने इसकी लड़ाइयां जीत लीं। यह भी एक विचित्र वात है कि इन तीनों महान् पूंजीवादी विद्रोहों में किसानों से ही वह फ़ौज तैयार हुई, जिसे यह लड़ाई लड़नी थी, और किसान ही वह वर्ग है, जो एक वार विजय मिली नहीं कि उस विजय के आर्थिक परिणामों से शर्तिया चौपट हो जाता है। क्रामवेल के एक सौ वर्ष वाद, इंगलैंड का यह स्वतंत्र काश्तकार वर्ग क़रीव-क़रीव ग़ायव हो चुका था। जो भी हो, अगर यह स्वतंत्र काश्तकार वर्ग न होता, और शहरों के साधारण जन न होते, तो अकेले पूंजीवादी वर्ग इस लड़ाई को उसके कटु अंत तक न लड़ सकता और चार्ल्स प्रथम को सूली पर न

चढ़ा सकता। पूंजीवादी वर्ग की उन जीतों को, जिनके लिए परिस्थितियां तैयार हो चुकी थीं, हासिल करने के लिए भी क्रांति को और बहुत क़ाफ़ी आगे ले जाना था—ठीक वैसे ही जैसे १७९३ में फ़्रांस में हुआ और १८४८ में जर्मनी में। वास्तव में यह पूंजीवादी समाज के विकास का एक नियम मालूम होता है।

खैर, क्रांतिकारी कार्यों के इस आधिक्य के बाद आवश्यक रूप से उसकी अनिवार्य प्रतिक्रिया भी हुई और अपनी दफ़ा, यह प्रतिक्रिया भी जिस बिंदु पर स्थिर हो सकती थी उसपर न ठहरकर उससे आगे बढ़ गयी। इस तरह बहुत बार आगे-पीछे जुम्बिश खाने के बाद, अंत में गुरुत्व का एक नया केंद्र स्थापित हुआ और इस जगह से फिर एक नया सिलसिला शुरू हुआ। ब्रिटिश इतिहास के उस शानदार युग का, जिसे 'संभ्रांत' वर्ग के लोग 'महान् विद्रोह' के नाम से जानते हैं, और उसके बाद आनेवाले संघर्षों का अंत एक ऐसी अपेक्षाकृत तुच्छ घटना से हुआ, जिसे उदारपंथी इतिहासकारों ने 'गौरवपूर्ण क्रांति' का नाम दिया है।

यह स्थान जहां से एक नया सिलसिला शुरू हुआ, उठते हुए मध्यवर्ग और भूतपूर्व सामंती ज़मींदारों के बीच समझौता था। और यद्यपि यह ज़मींदार आज की तरह अभिजात वर्ग का आदमी ही कहा जाता था, वह बहुत दिनों से ऐसे पथ पर आरूढ़ था, जिसपर चलकर वह बहुत बाद में आनेवाले फ़्रांस के लुई फ़िलिप की तरह 'राज्य का पहला पूंजीपति' बन गया। इंगलैंड का यह सौभाग्य था कि बड़े-बड़े पुराने सामंतों ने 'गुलाबों की लड़ाई' में एक-दूसरे को मार डाला था। उनके उत्तराधिकारी यद्यपि अधिकतर पुराने परिवारों के ही वंशधर थे, इन परिवारों से उनका संबंध सीधा नहीं, दूर का ही होता था; इसलिए वे उतने ख़ानदानी न रहकर बिलकुल एक नया ही समूह बन गये थे, जिसके संस्कार और जिसकी प्रवृत्तियां पूंजीवादी अधिक थीं और सामंती कम। वे रुपयों की

क़ीमत पूरी तरह समझते थे और उन्होंने फ़ौरन सैकड़ों छोटे किसानों को निकालकर और उनकी जगह भेड़ें रखकर लगान बढ़ाना शुरू कर दिया। हेनरी अष्टम ने चर्च की ज़मीनों को लुटाने के साथ ही, एक साथ वहुत-सी नयी पूंजीवादी क़िस्म की ज़मींदारियां क़ायम कीं। पूरी सत्रहवीं शताब्दी में अनगिनत जागीरों को ज़ब्त करने और उन्हें विलकुल हाल में या थोड़े ही दिन पहले मालामाल हुए लोगों को फिर से वख़्श देने का जो सिलसिला चलता रहा, उसका भी यही नतीजा हुआ। फलस्वरूप हेनरी सप्तम के समय से ही 'अभिजात वर्ग' ने औद्योगिक उत्पादन के विकास में वाधा डालना तो दूर, परोक्ष रूप से उसने फ़ायदा उठाने की कोशिश की; और वड़े-वड़े ज़मींदारों का सदा एक ऐसा भाग था, जो आर्थिक कारणों से हो या राजनीतिक कारणों से, महाजनी और औद्योगिक पूंजीवादी वर्ग के नेताओं के साथ सहयोग करने को प्रस्तुत था। इसलिए १६८९ का समझौता वहुत आसानी से सम्पन्न हो गया। 'माल और मंसब' की राजनीतिक लूट-खसोट वड़े-वड़े सामंती परिवारों के लिए छोड़ दी गयी, वशर्ते कि महाजन, कारखानेदार और व्यापारी मध्यवर्ग के आर्थिक हितों पर यथेष्ट ध्यान दिया जाता रहे। उस ज़माने में यह आर्थिक हित इतने शक्तिशाली थे कि वे राष्ट्र की सामान्य नीति को निश्चित कर सकने में समर्थ थे। छोटी-मोटी वातों को लेकर चाहे जो झगड़े हों, लेकिन कुल मिलाकर अभिजात-वर्ग का शासक गुट यह अच्छी तरह जानता था कि उसकी अपनी आर्थिक समृद्धि औद्योगिक तथा व्यापारिक मध्यवर्ग की समृद्धि से अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है।

उस ज़माने से पूंजीवादी वर्ग इंगलैंड के शासक वर्गों का एक तुच्छ परन्तु माना हुआ भाग हो गया। राष्ट्र की विशाल मेहनतकश जनता को अंकुश में रखने में, औरों के साथ उसका भी स्वार्थ था। व्यापारी या कारखानेदार ख़ुद अपने क्लर्कों, कर्मचारियों और घरेलू नौकरों के मुक़ावले

में मालिक की हैसियत रखता था, या जैसा अभी हाल तक कहा जाता था उनका 'कुदरती मुखिया' था। उसका स्वार्थ इस बात में था कि वह उनसे ज्यादा से ज्यादा और अच्छा से अच्छा काम ले सके; और इसके लिए उन्हें इस बात की शिक्षा देनी थी कि वह क़ायदे के साथ उसकी बात मानें और उसके कहने में रहें। वह स्वयं धार्मिक था; धर्म के झंडे के नीचे ही उसने राजा और सामंतों से संघर्ष किया था, और उसे यह मालूम करते देर न लगी कि अपने से कुदरती तौर पर कनिष्ठ लोगों के विचारों को प्रभावित करने और ईश्वर ने अपनी मर्ज़ी में आकर उन्हें जिन मालिकों के मातहत रखा था, इन कनिष्ठ लोगों को उनकी इच्छा के अधीन रखने का अवसर भी यही धर्म देता था। संक्षेप में, अंगरेज़ी पूंजीवादी वर्ग को अब 'नीची श्रेणियों' को, राष्ट्र की विशाल उत्पादक जनता को दलित रखने के काम में हिस्सा लेना था और इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए जो तरीक़े काम में लाये गये, उनमें एक धर्म का प्रभाव भी था।

एक और बात थी, जिसने पूंजीवादी वर्ग की धार्मिक प्रवृत्तियों को मज़बूत करने में मदद दी। यह इंगलैंड में भौतिकवाद का उदय था। इस नये सिद्धान्त ने मध्यवर्ग की पवित्र भावनाओं को धक्का ही नहीं दिया, उसने एक ऐसे दर्शन के रूप में अपने को घोषित किया, जो संसार के विद्वानों और सुसंस्कृत व्यक्तियों के लिए ही उपयुक्त था। और इसके विपरीत धर्म था, जो अशिक्षित जनता के लिए, जिसमें पूंजीवादी वर्ग का भी शुमार था, काफ़ी अच्छा था। हाब्स के साथ वह राजाओं के विशेषाधिकारों और राजाओं की सर्वशक्तिमत्ता के रक्षक के रूप में मैदान में आया, और उसने निरंकुश राज्यतंत्र का इसके लिए आह्वान किया कि वह इस 'puer robustus sed malitiosus'* यानी जनता को, दबाये रखे।

---

* मोटे-तगड़े, मगर शैतान लड़के को। —संपादक

इसी तरह हाब्स के अनुवर्ती, बोलिंगब्रोक, शैफ़्ट्सबरी इत्यादि के दर्शन में भौतिकवाद का निर्गुणवादी रूप एक अभिजातीय और कुछ चुने हुए लोगों तक सीमित सिद्धान्त ही बना रहा, और इसलिए मध्यवर्ग ने उसे घृणा की दृष्टि से देखा — उसके धर्मविरोधी विश्वासों के कारण, और उसके पूंजीवाद-विरोधी राजनीतिक संबंधों के कारण भी। इसीलिए, प्रगतिशील मध्यवर्ग का मुख्य भाग अभी भी, अभिजात वर्ग के भौतिकवाद तथा निर्गुणवाद के विरोध में, प्रोटेस्टेंट मतवादी संप्रदाय का अनुगामी बना रहा। इन संप्रदायों के झंडे के नीचे स्टूअर्ट राजाओं के ख़िलाफ़ लड़ाई लड़ी गयी, और इन्हीं के आदमियों ने यह लड़ाई लड़ी, और आज भी यह इंगलैंड की 'महान् उदार पार्टी' की रीढ़ बने हुए हैं।

इस बीच भौतिकवाद इंगलैंड से फ़्रांस पहुंचा, जहां वह दार्शनिकों के एक दूसरे भौतिकवादी मत, कार्टेसियनवाद की एक धारा के साथ घुलमिल कर एक हो गया। फ़्रांस में भी वह पहले-पहल एक केवल अभिजातीय सिद्धान्त ही बना रहा। परंतु शीघ्र ही उसकी क्रांतिकारी प्रकृति उभरकर सामने आयी। फ़्रांसीसी भौतिकवादियों ने अपनी आलोचना धार्मिक विश्वास की बातों तक ही सीमित नहीं रखी, उन्हें जितनी भी वैज्ञानिक परम्परायें या राजनीतिक संस्थायें मिलीं, सबको उन्होंने अपनी आलोचना की लपेट में लिया, और अपना यह दावा, कि हमारा सिद्धान्त सर्वव्यापी है, साबित करने के लिए उन्होंने सबसे सीधा रास्ता अख़्तियार किया, और अपने विराट ग्रंथ 'विश्वकोष' में उसे साहस के साथ ज्ञान के हर विषय पर लागू किया। इसी विश्वकोष से उनका नाम विश्वकोषवादी पड़ा। इस प्रकार प्रकाश्य रूप से भौतिकवाद या निर्गुणवाद इन दो में से एक न एक रूप में वह फ़्रांस के सभी शिक्षित युवकों का मत बन गया; इस हद तक कि जब फ़्रांस की महान् क्रांति भड़की, तब जिस सिद्धान्त का अंगरेज़ राजनिष्ठों ने पोषण किया था, उसने

फ़ांसीसी गणतंत्रवादियों और आतंकवादियों को एक सैद्धान्तिक पताका दी और 'मनुष्य के अधिकारों की घोषणा' के लिए शब्द प्रस्तुत किये। फ़्रांस की महान् क्रांति पूंजीवादी वर्ग की तीसरी वग़ावत थी ; लेकिन यह पहली वग़ावत थी, जिसने अपना मज़हवी जामा उतार-फेंका था और जो खुल्लमखुल्ला राजनीतिक ढंग से लड़ी गयी। और यह पहली लड़ाई थी, जो तव तक लड़ी गयी, जव तक दो लड़ाकू दलों में से एक यानी अभिजात वर्ग खत्म न हो गया, और दूसरा यानी पूंजीवादी वर्ग सम्पूर्ण रूप से विजयी न हो गया। इंगलैंड में क्रांति के पूर्व और क्रांति के बाद की संस्थाओं का अविच्छिन्न क्रम और ज़मींदारों और पूंजीपतियों का समझौता उस बात में प्रकट हुआ कि क़ानून की नज़ीरें चलती रहीं और क़ानून के सामंती रूपों को धर्म की ओट में अक्षुण्ण रखा गया। फ़्रांस में क्रांति का अर्थ था अतीत की परम्परा से सम्पूर्ण विच्छेद। उसने सामंतवाद के अवशेषों तक को निश्चिह्न कर दिया और Code Civil (ज़ाब्ता दीवानी) की शक्ल में, प्राचीन रोमन क़ानून को—और यह रोमन क़ानून, जिस आर्थिक मंज़िल को मार्क्स ने माल का उत्पादन कहा है, उसके क़ानूनी संवंधों की प्रायः सम्पूर्ण और निर्दोष अभिव्यक्ति है—आधुनिक पूंजीवादी परिस्थितियों के अनुरूप बड़ी होशियारी से एक नया संशोधित रूप दिया—इतनी होशियारी से कि आज भी फ़्रांस का यह क्रांतिकारी क़ानून इंगलैंड सहित सभी देशों में, मिल्कियत के क़ानून में सुधार के लिए एक नमूने का काम देता है। फिर भी हमें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि अगर अंगरेज़ी क़ानून अभी भी पूंजीवादी समाज के आर्थिक संवंधों को एक ऐसी ववंर सामंती भाषा में व्यक्त करता है, जो व्यक्त वस्तु से उसी तरह मेल खाती है, जैसे अंगरेज़ी हिज्जे अंगरेज़ी उच्चारण से—किसी फ़्रांसीसी ने कहा है कि vous écrivez Londres et vous prononcez Constantinople*

*आप लिखते हैं 'लंदन' और वोलते हैं 'कुस्तुनतुनिया'।—संपादक

—तो यह अंगरेज़ी क़ानून ही वह क़ानून है, जिसने प्राचीन जर्मनों तक की व्यक्तिगत स्वतंत्रता, स्थानीय स्वायत्त शासन और अदालत के सिवाय बाक़ी हर तरह के हस्तक्षेप से निर्भयता और मुक्ति—इन अधिकारों के श्रेष्ठ भाग को सुरक्षित रखा है और उसे अमरीका तथा उपनिवेशों तक पहुंचाया है, जबकि निरंकुश राज्यतंत्र के युग में ये अधिकार यूरोप से विलुप्त हो गये और अभी भी उनका कहीं भी पूरी तरह उद्धार नहीं हो पाया है।

हम फिर अपने ब्रिटिश पूंजीपति की बात लें। फ़ांसीसी क्रांति ने उसे इस बात का बढ़िया मौक़ा दिया कि वह यूरोप के राजाओं की सहायता से फ़्रांस के समुद्री व्यापार को नष्ट कर दे, फ़्रांसीसी उपनिवेशों को हथिया ले और फ़्रांस के समुद्री प्रतिद्वन्द्विता के आखिरी दावों को कुचल दे। उसने फ़्रांस की क्रांति से लोहा लिया, इसका एक कारण यह था। दूसरा कारण यह था कि इस क्रांति का तौर-तरीक़ा उसकी फ़ितरत के बिलकुल खिलाफ़ था। इस क्रांति का 'घृणित' आतंकवाद ही नहीं, पूंजीवादी शासन को आखिरी छोर तक ले जाने की कोशिश भी। ब्रिटिश पूंजीवादी अपने अभिजात वर्ग के बिना कर ही क्या सकता था? जो भी तहज़ीब और क़ायदा उसे मालूम था, इस अभिजात वर्ग ने ही उसे सिखाया था। उसने उसके लिए नये-नये फ़ैशन निकाले थे और उसी ने घर में अमन क़ायम रखनेवाली सेना और बाहर औपनिवेशिक देशों और नये बाज़ारों को सर करनेवाली नौसेना के लिए अफ़सर जुटाये थे। इसमें सन्देह नहीं कि पूंजीवादी वर्ग का एक प्रगतिशील अल्पसंख्यक भाग था, जिसके हितों पर समझौते में उतना ध्यान नहीं दिया गया था और यह भाग, जिसमें अधिकतर मध्यवर्ग के कम धनी लोग थे, क्रांति से सहानुभूति रखता था, लेकिन पार्लमेंट में उसकी कोई ताक़त न थी।

इस प्रकार यदि भौतिकवाद फ़्रांसीसी क्रांति का दर्शन बन गया, तो धर्मभीरु अंगरेज़ पूंजीवादी वर्ग अपने धर्म के साथ और भी मज़बूती

के साथ चिपक गया। पेरिस के आतंक-राज ने क्या यह सिद्ध नहीं कर दिया था कि जनता की धार्मिक प्रवृत्तियों के नष्ट हो जाने का परिणाम क्या होता है? जितना ही भौतिकवाद फ़्रांस से पड़ोसी देशों में फैलता गया और जितना ही उसे समान सैद्धान्तिक धाराओं से, विशेष रूप से जर्मन दर्शन से, बल मिला और वस्तुतः यूरोप में जितना ही भौतिकवाद तथा स्वतंत्र विचार एक सुसंस्कृत व्यक्ति के आवश्यक गुण बनते गये, उतनी ही मज़बूती के साथ ब्रिटिश मध्यवर्ग अपने विविध धार्मिक विश्वासों के साथ चिपकता गया। यह विश्वास एक दूसरे से भिन्न हो सकते हैं, परन्तु वह सब स्पष्ट रूप से धार्मिक, ख्रिष्टीय विश्वास ही थे।

जहां फ़्रांस में क्रांति ने पूंजीवादी वर्ग की राजनीतिक विजय निश्चित कर दी थी, वहीं इंगलैंड में वाट, आर्कराइट, कार्टराइट और दूसरों ने एक औद्योगिक क्रांति का सूत्रपात किया था, जिसने आर्थिक शक्ति के गुरुत्व के केंद्र को पूरी तरह स्थानान्तरित कर दिया। अभिजात ज़मींदारों की अपेक्षा पूंजीपतियों का धन और वैभव बहुत तेज़ी से बढ़ा। स्वयं पूंजीवादी वर्ग के अंदर कारखानेदारों ने महाजनी अभिजात वर्ग को, बैंकरों वग़ैरह को अधिकाधिक पृष्ठभूमि में ढकेल दिया। १६८९ का समझौता, बावजूद इसके कि उसमें धीरे-धीरे पूंजीवादी वर्ग के हित में परिवर्तन हुए थे, अब दोनों पक्षों की सापेक्ष स्थिति के अनुरूप न रहा। इन पक्षों का स्वरूप भी बदल गया था; १८३० का पूंजीवादी वर्ग पिछली शताब्दी के पूंजीवादी वर्ग से बहुत भिन्न था। अभी भी जो राजनीतिक शक्ति अभिजात वर्ग के हाथ में छोड़ दी गयी थी, और जिसका उपयोग वे नये औद्योगिक पूंजीवादी वर्ग के दावों का विरोध करने में करते थे, अब उसका नये आर्थिक हितों से मेल न रह गया। अभिजात वर्ग के साथ एक नया संघर्ष आवश्यक हो गया, और उसका अंत नयी आर्थिक शक्ति की विजय में ही हो सकता था। पहले तो १८३० की फ़्रांसीसी क्रांति

की प्रेरणा से, सारे प्रतिरोध के बावजूद, सुधार-क़ानून को पास किया गया। इस क़ानून ने पार्लामेंट में पूंजीवादी वर्ग को एक शक्तिशाली और सम्मानित स्थान प्रदान किया। इसके बाद अनाज के क़ानूनों* को मंसूख़ किया गया और इसने सामंती अभिजात वर्ग पर पूंजीवादी वर्ग का, विशेष रूप से उसके सबसे सक्रिय भाग कारख़ानेदारों का, प्रभुत्व सदा के लिए स्थापित कर दिया। यह पूंजीवादी वर्ग की सबसे बड़ी विजय थी, परन्तु एकमात्र अपने हित में प्राप्त की गयी •यह अन्तिम विजय भी थी। बाद में उसने जो जीतें हासिल कीं, उन्हें उसे एक नयी सामाजिक शक्ति के साथ बांटकर उपभोग करना पड़ा, और यह नयी शक्ति पहले तो उसके साथ थी, पर बहुत जल्द उसका प्रतिद्वन्दी बन गयी।

औद्योगिक क्रांति ने बड़े-बड़े कारख़ानेदार-पूंजीपतियों के एक वर्ग को जन्म दिया था, लेकिन उसने एक और वर्ग को, बहुत बड़े वर्ग को, भी जन्म दिया था – यह वर्ग था कारख़ानों में काम करनेवाली मज़दूर जनता का वर्ग। जिस अनुपात में औद्योगिक क्रांति का कारख़ाने के उत्पादन की एक शाखा के बाद दूसरी शाखा पर अधिकार होता गया, उसी अनुपात में यह वर्ग भी धीरे-धीरे संख्या में बढ़ता गया, और इसी अनुपात में उसने अपनी ताक़त भी बढ़ायी। अपनी इस ताक़त का सबूत

---

* अनाज के क़ानून – १८१५ में ब्रिटिश पार्लामेंट द्वारा ज़मींदारों के हित में स्वीकृत की गयी अनाज की ऊंची दरों से संबंधित क़ानून। जनसंख्या के ग़रीब तबक़े के कंधों पर भारी बोझ बने हुए ये क़ानून औद्योगिक पूंजीपतियों के लिए भी अलाभकर थे क्योंकि उनके फलस्वरूप श्रम का मूल्य बढ़ गया, घरेलू बाज़ार में क्रय-शक्ति घट गयी और विदेशी व्यापार के विकास में रुकावट पैदा हुई। १८४६ में ये क़ानून मंसूख़ किये गये। – संपादक

3—2503

उसने १८२४ में ही दे दिया, जब उसने पार्लमेंट को अनिच्छापूर्वक ऐसे क़ानूनों को रद्द करने के लिए मजबूर किया, जिनके अनुसार मज़दूरों को अपना संगठन बनाने की मनाही थी। सुधार-आंदोलन के काल में इन कमकरों ने सुधार-पार्टी के अंदर एक गरम दल क़ायम किया। १८३२ के ऐक्ट में उन्हें वोट देने के अधिकार से वंचित रखा गया था, इसलिए उन्होंने अपनी मांगों को जनता के एक अधिकार-पत्र (People's Charter) के रूप में रखा, और अनाज क़ानून विरोधी विशाल पूंजीवादी पार्टी के मुक़ाबले में, उन्होंने अपने को एक स्वतंत्र पार्टी अर्थात् चार्टिस्ट पार्टी के रूप में संगठित किया। यह पार्टी आधुनिक युग में कमकरों की पहली पार्टी थी।

इसके बाद फ़रवरी और मार्च, १८४८ की यूरोपीय क्रांतियां हुईं, जिनमें कमकर जनता ने इतना आगे बढ़कर हिस्सा लिया, और कम से कम पेरिस में ऐसी मांगें रखीं, जो पूंजीवादी समाज के दृष्टिकोण से कभी भी स्वीकार नहीं की जा सकती थीं। क्रांतियों के बाद चारों ओर ज़ोरदार प्रतिक्रिया हुई। पहले १० अप्रैल, १८४८ को चार्टिस्टों की हार, फिर उसी साल जून में, पेरिस मज़दूर-विद्रोह का कुचल दिया जाना, और फिर इटली, हंगरी, दक्षिण जर्मनी में १८४९ की आफ़तें, और अंत में २ दिसंबर, १८५१ को पेरिस पर लुई बोनापार्ट की विजय। कम से कम कुछ वक़्त के लिए मज़दूर वर्ग के दावों का हौवा दूर कर दया गया, लेकिन इसके लिए कितनी बड़ी क़ीमत चुकानी पड़ी! अगर अंगरेज़ पूंजीपति ने आम जनता की धार्मिक भावना को क़ायम रखने की ज़रूरत पहले ही समझ ली थी, तो इन सारे अनुभवों के बाद, उसने यह ज़रूरत और भी कितना महसूस की होगी? अपने यूरोपीय भाई-बंदों की हिक़ारत-भरी हंसी की परवाह न कर, वह लगातार साल पर साल, निम्न श्रेणियों की धर्मशिक्षा पर बीसों हज़ार ख़र्च करता रहा। अपने

देश के धार्मिक उपकरणों से उसे सन्तोष न था, इसलिए उसने (आज दुनिया में) एक व्यापार के रूप में, धर्म के सबसे बड़े संगठनकर्ता 'जोनाथन भाई'* से अपील की, अमरीका से पुनरुत्थानवाद का आयात किया, मूडी तथा सांकी** जैसे लोगों को बुलाया, और अंत में उसने 'मुक्ति सेना'*** की खतरनाक मदद को क़बूल किया; खतरनाक इसलिए कि यह सेना प्रारंभिक ईसाई धर्म के प्रचार में फिर से जान डालती है, ग़रीबों को खुदा के बंदे कहकर पुकारती है, पूंजीवाद के विरुद्ध धार्मिक तरीक़ों से संघर्ष करती है; इस प्रकार वह प्रारंभिक ईसाई वर्ग-विरोध के एक तत्त्व का पोषण करती है, और किसी भी दिन उन धनी-मानी लोगों को परेशानी में डाल सकती है, जो आज उसके लिए नक़द रुपये देते हैं।

ऐतिहासिक विकास का यह एक नियम मालूम होता है कि पूंजीवादी वर्ग किसी भी यूरोपीय देश में—कम से कम स्थायी काल के लिए—राजनीतिक सत्ता को उसी प्रकार अकेले अपने अधिकार में नहीं रख सकता, जिस प्रकार मध्ययुग में सामंती अभिजात वर्ग ने रखा था। यहां तक कि फ़्रांस में भी, जहां सामंतवाद को बिलकुल खत्म कर दिया

---

*संयुक्त राष्ट्र अमरीका को सूचित करने के लिए 'भाई जोनाथन' कहा जाता था। फिर इसके स्थान में 'चाचा सेम' का प्रयोग प्रचलित हुआ।—संपादक

** **पुनरुत्थानवाद**—गत शताब्दी का एक आंदोलन, जिसने धर्म के नष्ट होते हुए प्रभाव को फिर से जीवित करने का प्रयत्न किया। अमरीका के दो उपदेशक, मूडी और सांकी इस आंदोलन के संगठनकर्ता थे।—संपादक

*** **मुक्ति सेना**—१८६५ में इंगलैंड में स्थापित किया गया, एक धार्मिक परोपकारी संगठन।—संपादक

गया, समूचा पूंजीवादी वर्ग शासन पर अपना पूरा अधिकार बहुत थोड़े-थोड़े समय के लिए ही रख सका। १८३० से १८४८ तक लुई फ़िलिप के शासन में पूंजीवादी वर्ग के एक बहुत छोटे-से भाग ने राज्य पर शासन किया; वोट देने की शर्त इतनी ऊंची रखी गयी थी कि उस वर्ग का अधिकांश भाग इस अधिकार से वंचित था। १८४८ से १८५१ तक, द्वितीय गणतंत्र के काल में, समूचे पूंजीवादी वर्ग ने हुकूमत की ज़रूर, लेकिन महज़ तीन साल के लिए। उनकी अयोग्यता के कारण द्वितीय साम्राज्य की स्थापना हुई। अब कहीं जाकर तीसरे गणतंत्र के युग में समूचे पूंजीवादी वर्ग ने बीस साल से ज़्यादा शासन की बागडोर अपने हाथ में रखी है, और उनके पतनोन्मुख होने के ज़ोरदार लक्षण अभी से देखने में आ रहे हैं। पूंजीवादी वर्ग का स्थायी शासन अमरीका जैसे देशों में ही संभव हुआ है, जहां सामंतवाद का नाम न था और समाज आरंभ से ही पूंजीवादी आधार पर चला। और फ़्रांस और अमरीका तक में पूंजीवादी वर्ग का उत्तराधिकारी, कमकर जनता अभी से दरवाज़ा खटखटाने लगी है।

इंगलैंड में पूंजीवादी वर्ग का एकाधिपत्य कभी नहीं रहा। १८३२ की विजय के बाद भी बड़ी-बड़ी सरकारी नौकरियां एक तरह से अकेले अभिजात वर्ग के अधिकार में ही रहीं। इस बात को धनी मध्यवर्ग ने चुपचाप कैसे सह लिया, यह मेरे लिए एक रहस्य ही बना रहा, और यह रहस्य तब खुला जब महान् उदारवादी कारखानेदार मि० डब्ल्यू०ए० फार्स्टर ने एक सार्वजनिक सभा में बोलते हुए, ब्रैडफोर्ड के युवकों से अपील की कि वह संसार में सफलता प्राप्त करने के लिए फ़्रांसीसी भाषा सीखें। अपने अनुभव का हवाला देते हुए उन्होंने बताया कि जब मंत्रिमंडल के एक मंत्री की हैसियत से, उन्हें एक ऐसे समाज में आना-जाना पड़ा, जहां फ़्रांसीसी

भाषा कम से कम उतनी ही आवश्यक थी जितनी अंगरेज़ी, तब कैसे उन्हें मुंह चुराना पड़ा और सब के सामने शर्मिंदा होना पड़ा! दरअसल बात यह है कि उस ज़माने का मध्यवर्ग सहसा धनी अवश्य हो गया था, लेकिन साधारणतः था वह अशिक्षित ही; और उसके लिए सिवा इसके कोई चारा न था कि वह ऊपर की सरकारी नौकरियों को अभिजात वर्ग के लिए ही छोड़ दे, क्योंकि उसके अंदर व्यापार-बुद्धि के साथ द्वीपीय कूपमंडूकता तथा द्वीपीय अहंकार था लेकिन इन नौकरियों के लिए और ही गुणों की आवश्यकता थी।* आज भी अखबारों में मध्यवर्गीय शिक्षा के बारे में जो कभी ख़त्म न होनेवाली बहस चल रही है, उससे यह

---

* और व्यापार के मामले में भी राष्ट्रीय अंधराष्ट्रवादी अहंकार परामर्श नहीं दे सकता। अभी हाल तक एक औसत अंगरेज़ कारखानेदार, किसी अंगरेज़ के लिए अपनी भाषा छोड़कर दूसरी भाषा बोलना अपमानजनक समझता था, और उसे इस बात पर गर्व ही अधिक होता था कि 'ग़रीब' विदेशी इंगलैंड में आकर बस गये हैं और उन्होंने उसके माल को विदेशों में खपाने की झंझट और परेशानी से उसे बरी कर दिया है। उसने कभी इस बात पर ग़ौर नहीं किया कि इस तरह इन विदेशियों ने, अधिकांश रूप से जर्मनों ने, ब्रिटेन के विदेशी व्यापार के, आयात तथा निर्यात के एक बहुत बड़े हिस्से पर अपना क़ब्ज़ा जमा लिया, और विदेशों के साथ अंगरेज़ों का सीधा व्यापार, प्रायः उपनिवेशों, चीन, संयुक्त राष्ट्र अमरीका और दक्षिणी अमरीका तक ही सीमित रह गया। न ही उसने इस बात पर ग़ौर किया कि यह जर्मन दूसरे देशों के जर्मनों के साथ व्यापार करते थे, और उन्होंने धीरे-धीरे पूरी दुनिया में व्यापारिक उपनिवेशों का एक जाल बिछा दिया था। लेकिन जब, क़रीब चालीस साल पहले, जर्मनी ने पूरी संजीदगी के साथ, निर्यात

ज़ाहिर होता है कि अभी भी अंगरेज़ मध्यवर्ग अपने को श्रेष्ठतम शिक्षा के योग्य नहीं समझता, और अधिक साधारण शिक्षा की ही अपेक्षा रखता है। इस तरह अनाज-क़ानूनों के रद्द कर दिये जाने के बाद भी, स्वाभाविक तौर पर यह समझा गया कि कावडेन, ब्राइट, फ़ार्स्टर आदि जिन लोगों ने यह जीत हासिल की थी, वे देश के राजकीय शासन में भाग लेने से वंचित रहें और वे बीस साल तक वंचित रहे भी, जिसके बाद एक नये सुधार-क़ानून ने उनके लिए मंत्रिमण्डल का द्वार खोल दिया। ब्रिटिश पूंजीवादी वर्ग में अपनी सामाजिक हीनता की भावना इतनी गहरी विंध गयी है कि सभी राजकीय अवसरों पर शोभनीय रूप से राष्ट्र का प्रतिनिधित्व करने के लिए उन्होंने अपने और राष्ट्र के खर्च पर, अकर्मण्य व्यक्तियों की एक सजावटी जाति को क़ायम कर रखा है, और जब उनमें से कोई इस विशिष्ट तथा विशेषाधिकार सम्पन्न समाज में, जिसका (अन्ततः) उन्होंने स्वयं ही निर्माण किया है, प्रवेश पाने के योग्य समझा जाता है, वह इसे अपना बड़ा-भारी सम्मान समझता है।

के लिए उत्पादन आरंभ किया, अनाज-निर्यात करनेवाले देश से उसे कुछ ही समय में अव्वल दर्जे के एक औद्योगिक देश में बदल देने में यह जाल खूब काम आया। और तब, क़रीब दस साल पहले, अंगरेज़ कारखानेदार घबराया और उसने अपने राजदूतों और वाणिज्य-दूतों से पूछा कि वह अपने ग्राहकों को अब और लगाये क्यों नहीं रख सकता। और उन्होंने एक स्वर से उत्तर दिया – (१) तुम अपने ग्राहक की भाषा नहीं सीखते, बल्कि यह आशा करते हो कि वह तुम्हारी भाषा सीखेगा; (२) तुम अपने ग्राहक की आवश्यकता, आदत और रुचि के अनुकूल होने की कोशिश तक नहीं करते, बल्कि यह आशा करते हो कि वह अपने को तुम्हारे अनुकूल बनायेगा। (एंगेल्स का नोट)

इस तरह हम देखते हैं कि औद्योगिक तथा व्यापारी मध्यवर्ग अभी तक भूस्वामी अभिजात वर्ग को राजनीतिक सत्ता से वंचित करने में पूरी तौर पर सफल न हो पाया था कि एक दूसरा प्रतिद्वंदी, मज़दूर वर्ग, मैदान में उतरा। चार्टिस्ट आंदोलन तथा यूरोपीय क्रांतियों के बाद की प्रतिक्रिया, और साथ ही १८४८ और १८६६ के बीच ब्रिटिश व्यापार के अभूतपूर्व विस्तार ने (जिसका कारण भोंड़े तौर पर केवल मुक्त व्यापार बताया जाता है, लेकिन जो इससे कहीं ज्यादा रेल, समुद्री जहाज़, और साधारणतः परिवहन के साधनों का शक्तिशाली विकास था) मज़दूर वर्ग को फिर लिबरल पार्टी के अधीन होने पर विवश किया था, चार्टिस्ट युग से पहले की तरह वह उस पार्टी का उग्र पक्ष हो गया था। बावजूद इसके, वोट देने के अधिकार का उनका दावा धीरे-धीरे अनिवार्य बन गया, और जहां लिबरल पार्टी के व्हिग नेताओं ने 'मुंह चुराया', वहां डिसरायली ने टोरी दल को इसके लिए तैयार किया कि वे अनुकूल अवसर से लाभ उठायें और पार्लामेंट की सीटों के पुनर्वितरण के साथ, नगरों में पारिवारिक निर्वाचन (household suffrage) का अधिकार लागू करें, और इस तरह उसने दिखा दिया कि वह व्हिग नेताओं से कहीं ज्यादा होशियार था। इसके बाद चुनाव-पत्रों के द्वारा चुनाव होना शुरू हुआ (ballot), और तब १८८४ में यह पारिवारिक निर्वाचन-अधिकार काउंटियों में भी लागू किया गया और सीटों का एक नये सिरे से बंटबारा किया गया, जिससे चुनाव-क्षेत्र कुछ हद तक एक-दूसरे के बराबर हो गये। इन कार्रवाइयों से मज़दूर वर्ग की निर्वाचन-शक्ति बहुत बढ़ गयी, यहां तक कि आज कम से कम डेढ़-दो सौ चुनाव-क्षेत्रों में अधिकांश मतदाता इस वर्ग के ही हैं। लेकिन लोकसभात्मक सरकार परंपरा के प्रति आदर सिखानेवाला बहुत खास स्कूल है; अगर मध्यवर्ग उन लोगों

को जिन्हें लार्ड जान मैनर्स ने मज़ाक़ में 'हमारे पुराने सामंत' कहा था, भय और आदर की दृष्टि से देखता है, तो आम मेहनतकश जनता 'अपने से बड़े' कहे जानेवाले लोगों को याने मध्यवर्ग को, आदर और सम्मान की दृष्टि से देखती है। सचमुच आज से पंद्रह साल पहले अंगरेज़ मज़दूर एक आदर्श मज़दूर था; और वह अपने मालिक का इतना ख़याल और इतनी इज़्ज़त करता था, और अपने हकों को मांगने में इतना संकोचशील और विनयशील था, कि उसे देखकर अपने देश के मज़दूरों की असाध्य साम्यवादी और क्रांतिकारी प्रवृत्तियों से विक्षुब्ध, Katheder-Socialist मत के हमारे जर्मन अर्थशास्त्रियों को बेहद तसल्ली मिलती थी।

परन्तु यह व्यवहार-कुशल अंगरेज़ मध्यवर्ग जर्मन प्रोफ़ेसरों से ज़्यादा दूर तक देखता था। उसने अपनी शक्ति को मज़दूर वर्ग के साथ बांटकर उपभोग किया था अवश्य, पर अत्यंत अनिच्छा से। उसने चार्टिस्ट ज़माने में यह देख लिया था कि यह puer robustus sed malitiosus यानी जनता, क्या कर सकती है। और तब से उन्हें विवश होकर जनता के अधिकार-पत्र के अधिकांश भाग को ब्रिटेन के क़ानून का अंग बनाना पड़ा था। अगर कभी जनता को नैतिक साधनों से वश में रखना था तो अब, और जनता को प्रभावित करने का सर्वोत्तम नैतिक साधन धर्म ही था, और अब भी है। और इसीलिए हम देखते हैं कि स्कूलों की प्रबंध-समितियों में अधिकतर पादरी हैं, और इसीलिए यह पूंजीवादी वर्ग, कर्मकांड से लेकर 'मुक्ति-सेना' तक, अनेक प्रकार के पुनरुत्थानवाद को प्रश्रय देने के लिए, अपने-आप पर अधिकाधिक कर लगाता है।

और अब ब्रिटिश 'संभ्रान्त' वर्ग ने यूरोपीय पूंजीवादी के स्वतंत्र विचार तथा धार्मिक शिथिलता पर विजय पायी। फ़्रांस और जर्मनी के मज़दूर विद्रोही हो गये थे। उन्हें समाजवाद का रोग बुरी तरह लग गया

था और ऊपर उठने के लिए इस्तेमाल किया जानेवाला तरीक़ा क़ानूनी है कि ग़ैरक़ानूनी, इसकी उन्हें खास फ़िक्र न रह गयी थी। और इसकी माक़ूल वजह भी थी। यहां हाल यह था कि यह puer robustus दिन-ब-दिन ज्यादा malitiosus होता जा रहा था। फ़्रांसीसी और जर्मन पूंजीवादियों के लिए आखिरी चारा यही रह गया कि वह चुपके से अपने स्वतंत्र विचारों को छोड़ दें—जैसे कोई लड़का वड़ी शान से सिगार पीता हुआ जहाज़ पर आये, और जब जहाज़ के हचकोले खाने से मिचली आने लगे, चुपके से जलते हुए सिगार को समुद्र में फेंक दे। जो लोग पहले धर्म का मज़ाक़ उड़ाते थे, अब वह एक के बाद एक, अपने वाह्य आचरण में धर्म-परायण बनने लगे, चर्च के बारे में, चर्च के जड़ विश्वासों तथा आचार-विचार के बारे में श्रद्धापूर्ण बातें करने लगे और जहां तक अनिवार्य था, उनके अनुकूल आचरण भी करने लगे। फ़्रांसीसी पूंजीवादी शुक्रवार को निरामिष आहार करते, और जर्मन पूंजीवादी रविवार को चर्च की बेंचों पर बैठकर लंबे-लंबे प्रोटेस्टेंट उपदेश सुनते। भौतिकवाद ने उन्हें मुसीबत में डाल दिया था। "Die Religion muss dem Volk erhalten werden"*—समाज को सम्पूर्ण विनाश से बचाने का यह एकमात्र और अन्तिम उपाय था। उनका यह दुर्भाग्य था कि उन्होंने इस बात को तभी समझा, जब उन्होंने धर्म को हमेशा के लिए खत्म कर देने के लिए अपनी भरसक सब कुछ कर डाला था। अब अंगरेज़ पूंजीवादी की बारी थी कि वह हिक़ारत से हंसकर कहे, "बेवक़ूफ़ो, तुमने अब समझा है! मैं तुम्हें यह बात आज से दो सौ साल पहले ही बता सकता था!"

* जनता के लिए धर्म को जीवित रखना चाहिए।—संपादक

इसके बावजूद मेरा विचार है कि न तो अंगरेज़ों की धार्मिक जड़ता, और न ही यूरोपीय पूंजीवादी का post festum * हृदय-परिवर्तन, सर्वहारा वर्ग के उठते हुए ज्वार को रोक सकेगा। परम्परा एक ज़बर्दस्त बाधक शक्ति है, इतिहास की जड़ शक्ति है, परन्तु केवल निष्क्रिय होने के कारण उसका टूटना अवश्यंभावी है, और इसलिए धर्म स्थायी रूप से पूंजीवादी समाज की ढाल नहीं हो सकता। यदि क़ानून, दर्शन और धर्म के हमारे विचार, किसी समाज में प्रचलित आर्थिक सम्बंधों से ही न्यूनाधिक परोक्ष रूप से उत्पन्न हुए हैं, तो अन्ततः ऐसे विचार, इन संबंधों में संपूर्ण परिवर्तन के प्रभाव से बच नहीं सकते। और यदि हम दिव्य ज्ञान में विश्वास करें, तब तो दूसरी बात है, नहीं तो हमें मानना होगा कि ऐसा कोई धार्मिक विश्वास नहीं है, जो एक टूटते और चरमराते हुए समाज को टेक दे सके।

और दरअसल इंगलैंड में भी कमकर जनता आगे बढ़ने लगी है। इसमें सन्देह नहीं कि वह तरह-तरह की परम्पराओं से जकड़ी हुई है। पूंजीवादी परम्परायें, जैसे यह विश्वास कि इंगलैंड में दो ही पार्टियां संभव हैं – कंज़रवेटिव पार्टी और लिबरल पार्टी, और मज़दूर वर्ग विशाल लिबरल पार्टी के द्वारा ही अपनी मुक्ति प्राप्त कर सकता है। स्वतंत्र रूप से कार्य करने की पहली हिचकिचाती हुई कोशिशों से मिली हुई मज़दूरों की परम्परायें, जैसे बहुत-सारे पुराने मज़दूर संघों से उन प्रार्थियों को बाहर रखना, जो बाक़ायदा उम्मीदवार न रह चुके हों, जिसका मतलब है ऐसे हर मज़दूर संघ में, हड़ताल-तोड़कों का पनपना। लेकिन इस सब के बावजूद, जैसा प्रोफ़ेसर ब्रेंटानो तक को बड़े अफ़सोस के साथ अपने काथेडर-सोशलिस्ट भाइयों से कहना पड़ा है, अंगरेज़ मज़दूर वर्ग आगे बढ़ रहा

---

* घटना के पश्चात्। – संपादक

है। और इंगलैंड में जैसे हर चीज़ बढ़ती है, वह बढ़ता है तो आहिस्ता, संभले हुए क़दम उठाता हुआ, कभी हिचकिचाता हुआ, तो कभी न्यूनाधिक असफल और प्रयोगमूलक प्रयत्न करता हुआ; कभी वह बढ़ता है, तो, समाजवाद के नाम से ही शक खाता हुआ, बहुत सावधानी के साथ, जबकि वह समाजवाद के सार को धीरे-धीरे आत्मसात करता रहता है। और यह आंदोलन बढ़ता है और फैलता है, और मज़दूरों की एक परत के बाद दूसरी परत पर दख़ल करता है। इसने अब पूर्वी लंदन के अनिपुण मज़दूरों को झकझोरकर नींद से उठा दिया है, और हम सब जानते हैं कि बदले में इन नयी शक्तियों ने इस आंदोलन को कितनी शक्तिशाली प्रेरणा दी है! और अगर इस आंदोलन की रफ़्तार इतनी नहीं है, जितनी कुछ लोगों में बेसब्री है, तो उन्हें यह भूल नहीं जाना चाहिए कि मज़दूर वर्ग ने ही अंगरेज़ी चरित्र के सर्वश्रेष्ठ गुणों को जीवित रखा है; और इंगलैंड में जब एक क़दम उठा लिया जाता है, तो फिर साधारणतः वह क़दम पीछे नहीं हटता। अगर उपरोक्त कारणों से, पुराने चार्टिस्टों के बेटे पूरे खरे नहीं उतरे तो क्या हुआ, आसार इसी बात के हैं कि उनके पोते अपने पूर्वजों के योग्य निकलेंगे।

लेकिन यूरोपीय मज़दूर वर्ग की विजय इंगलैंड पर ही निर्भर नहीं है। वह कम से कम इंगलैंड, फ़्रांस और जर्मनी के सहयोग से ही प्राप्त की जा सकती है। फ़्रांस और जर्मनी, दोनों में, मज़दूर-आंदोलन इंगलैंड से काफ़ी आगे बढ़ा हुआ है। जर्मनी में वह सफलता से बहुत दूर भी नहीं है। पिछले पचीस वर्षों में उसने वहां जो प्रगति की है वह सचमुच अभूतपूर्व है। और वह तीव्र से तीव्रतर गति से आगे बढ़ रहा है। यदि जर्मन मध्यवर्ग में राजनीतिक योग्यता, अनुशासन, साहस, शक्ति, लगन आदि गुणों को शोचनीय अभाव देखने में आया है, तो जर्मन मज़दूर वर्ग ने इन सभी गुणों का प्रचुर प्रमाण दिया है। चार सौ वर्ष पहले, यूरोपीय मध्यवर्ग का पहला विद्रोह

जर्मनी से शुरू हुआ; आज जो स्थिति है, उसे देखते हुए, क्या यह बात संभावना के परे है कि जर्मनी ही यूरोपीय सर्वहारा वर्ग की पहली महान् विजय की रंगभूमि होगा?

२० अप्रैल, १८९२ प्रस्तुत भूमिका अपने मूल रूप में एंगेल्स के 'समाजवाद: काल्पनिक तथा वैज्ञानिक' के अंगरेज़ी संस्करण के साथ प्रकाशित हुई थी। यह संस्करण १८९२ में लंदन से निकला था।
इसी समय यह भूमिका जर्मन भाषा में 'Neue Zeit' नाम की पत्रिका के १८९२-९३ के अंकों में प्रकाशित हुई।

फ़्रेडरिक एंगेल्स

१८९२ के अंगरेज़ी संस्करण के पाठ के अनुसार अनूदित। अंग्रेज़ी लिखित।

समाजवाद : काल्पनिक तथा वैज्ञानिक

१

आधुनिक समाजवाद सारतः दो बातों की स्वीकृति का प्रत्यक्ष फल है—एक ओर आज के समाज में मालिकों और ग़ैर-मालिकों, पूंजीपतियों और वेतनभोगी मज़दूरों के वर्ग-विरोध की स्वीकृति और दूसरी ओर उत्पादन में फैली हुई अराजकता की स्वीकृति। परंतु अपने सैद्धान्तिक रूप में, आधुनिक समाजवाद मूलतः अठारहवीं शताब्दी के फ़्रांसीसी दार्शनिकों द्वारा स्थापित सिद्धान्तों का प्रत्यक्ष ही, एक अधिक युक्तिसंगत विस्तार मालूम पड़ता है। हर नये सिद्धान्त की तरह, आधुनिक समाजवाद को भी आरंभ में उपलब्ध विचार-सामग्री के साथ अपना संबंध जोड़ना पड़ा, भौतिक-आर्थिक परिस्थितियों में उसकी जड़ें चाहे कितनी भी गहरी क्यों न हों।

फ़्रांस के वे महापुरुष, जिन्होंने आनेवाली क्रांति के लिए जनता के मन को तैयार किया था, स्वयं उग्र क्रांतिकारी थे। वे किसी भी बाह्य प्रमाण को स्वीकार नहीं करते थे। धर्म, प्रकृति-विज्ञान, समाज, राजनीतिक संस्थायें—हर चीज़ की अत्यंत निर्मम आलोचना की गयी—हर चीज़ को, विवेक-बुद्धि के न्याय-सिंहासन के सम्मुख अपने अस्तित्व का औचित्य सिद्ध करना था, अन्यथा अपने अस्तित्व का अधिकार खो देना था। मनुष्य के विवेक को हर वस्तु का एकमात्र माप निश्चित किया गया। यह वह समय

था, जव, जैसा हीगल ने कहा है, दुनिया सिर के वल खड़ी थी,* पहले तो इस अर्थ में कि मानव-मस्तिष्क और उसके चिन्तन द्वारा प्राप्त सिद्धान्त ही मनुष्य के सारे क्रिया-कलाप और सारे सामाजिक सम्वन्धों का आधार माने गये, परंतु धीरे-धीरे, इस व्यापकतर अर्थ में भी कि चूंकि वास्तविकता इन सिद्धान्तों से मेल न खाती थी, इसलिए उसे सचमुच उलट देना था,

---

* फ़ांसीसी क्रांति से संबंध रखनेवाला अंश यह है—"विचार ने, न्याय की धारणा ने, सहसा संसार पर अपना प्रभाव डाला, और अन्याय का पुराना ढांचा उसके सामने ठहर न सका। न्याय की इस धारणा के रूप में अव एक विधान की स्थापना हो गयी है और अव से हर चीज़ को इसी आधार पर क़ायम करना था। जव से सूरज आकाश में है, और ग्रह उसकी परिक्रमा कर रहे हैं, तव से आज तक ऐसा दृश्य नहीं देखा गया कि मनुष्य सिर के वल यानी विचार के वल खड़ा हो—और इसके अनुरूप ही वास्तविकता का निर्माण कर रहा हो। सवसे पहले अनाक्सागोरस ने ही कहा था कि संसार में Nûs यानी बुद्धि का ही राज है, लेकिन मनुष्य ने यह पहली वार समझा है कि मानसिक जगत में भी विचार का शासन होना चाहिए। यह एक गौरवपूर्ण प्रभात था, और हर चिन्तनशील प्राणी ने इस पवित्र दिन को मनाने में योग दिया। एक उच्च भावना ने उस समय लोगों के मन को आंदोलित किया, मनुष्य की विवेक-वुद्धि के प्रति उत्साह का एक भाव संसार भर में फैल गया। ऐसा लगता था जैसे ईश्वरीय नियम और पार्थिव जगत, दोनों का संयोग हो गया हो।" (हीगल का 'इतिहास-दर्शन', १८४०, पृ. ५३५) क्या अव समय नहीं आ गया है कि स्वर्गीय प्रोफ़ेसर हीगल की इस आम तौर से खतरनाक, और विध्वंस-मूलक शिक्षा के विरुद्ध समाजवाद-विरोधी क़ानून लागू किया जाये? (एंगेल्स का नोट)

ऊपर का नीचे और नीचे का ऊपर कर देना था। समाज और सरकार के हर स्वरूप को, जिसका उस समय अस्तित्व था, हर पुरानी परम्परागत धारणा को, अविवेकपूर्ण कहकर कूड़ेख़ाने में डाल दिया गया; संसार ने अभी तक अपने को केवल पूर्वाग्रहों के सहारे चलने दिया, अतीत की हर वस्तु केवल दया और अवज्ञा के पात्र रही। अब पहली वार, विवेक के राज्य का, एक नये प्रभात का उदय हुआ है। अंधविश्वास, अन्याय, विशेषाधिकार, अत्याचार को अब से मिट जाना था और उनके स्थान पर शाश्वत सत्य, शाश्वत न्याय, प्रकृति-सम्मत समानता और मनुष्य के अनाक्राम्य अधिकारों की प्रतिष्ठा होनी थी।

आज हम जानते हैं कि विवेक का यह राज्य पूंजीवादियों का तथाकथित आदर्श-राज्य भर था; इस शाश्वत न्याय की परिणति पूंजीवादी न्याय में हुई; यह समानता क़ानून की दृष्टि में पूंजीवादी समानता में वदल गयी। पूंजीवादी सम्पत्ति के अधिकार को मनुष्य का एक मौलिक अधिकार घोषित किया गया, और विवेक का राज्य, रूसो का 'सामाजिक समझौता', एक जनवादी पूंजीवादी गणतंत्र के रूप में स्थापित हुआ, और इसी रूप में वह स्थापित हो भी सकता था। अपने पूर्ववर्ती विचारकों की तरह अठारहवीं शताव्दी के महान विचारक भी अपने युग की सीमाओं का उल्लंघन न कर सकते थे।

उस समय सामंती अभिजात वर्ग और शहरी मध्यवर्ग का विरोध तो था ही—और यह मध्यवर्ग समाज के शेष भाग का प्रतिनिधि होने का दावा करता था—लेकिन इसके साथ ही, शोपकों और शोषितों, मौज उड़ानेवाले अमीरों और ग़रीव मज़दूरों का सामान्य विरोध भी था। यही वह परिस्थिति थी, जिसके कारण पूंजीवादी वर्ग के लिए अपने को एक विशेष वर्ग के नहीं, समस्त पीड़ित मानवता के प्रतिनिधि के रूप में पेश करना संभव हो सका। इतना ही नहीं। पूंजीवादी वर्ग का जब से जन्म हुआ,

तभी से वह अपने प्रतिवाद से आक्रांत था—वेतनभोगी मज़दूरों के बिना पूंजीपतियों का अस्तित्व नहीं हो सकता, और जिस अनुपात में मध्ययुग के शिल्प-संघों के मालिक आधुनिक युग के पूंजीपति बन गये, उसी अनुपात में शिल्प-संघों के कारीगर-मजदूर, और इन संघों से बाहर काम करनेवाले दैनिक मजदूर, सर्वहारा बन गये। और यद्यपि, कुल मिलाकर, यह सही है कि सामंतों के खिलाफ़ अपने संघर्ष में पूंजीवादी वर्ग, अपने हितों के साथ ही उस युग के विभिन्न कमकर-वर्गों के हितों का भी प्रतिनिधित्व करने का दावा कर सकता था, तो भी हर महान पूंजीवादी आंदोलन में एक ऐसे वर्ग के स्वतंत्र विस्फोट भी हुए, जो न्यूनाधिक विकसित रूप में आधुनिक सर्वहारा वर्ग का पूर्वज था। उदाहरण के तौर पर जर्मन सुधार-आंदोलन और किसान-युद्ध के समय 'अनाबैप्टिस्ट'* और टामस म्यूंत्सर, ब्रिटेन की महान क्रांति के समय 'लेवेलर्स'** तथा फ़ांस की महान क्रांति के समय बाब्योफ़।

अभी तक अविकसित इस वर्ग के क्रांतिकारी विद्रोहों के अनुरूप सैद्धान्तिक स्थापनायें की गयीं; सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियों में

---

* **अनाबैप्टिस्ट** (रिबैप्टिस्ट)—१६ वीं शताब्दी में जर्मनी और नीदरलैंड्स में उदित एक धार्मिक पंथ के माननेवाले। १५२४-१५२५ के किसान-युद्ध के दौरान अनाबैप्टिस्ट जो कि अधिकांश किसान, कारीगर और छोटे व्यापारी थे, टामस म्यूंत्सर के नेतृत्व में स्थापित अत्यधिक क्रांतिकारी पक्ष में भर्ती हुए। —संपादक

** यहां 'सच्चे लेवेलर्स' (true levellers) या 'खोदनेवालों' (diggers) से अभिप्राय है। ये १७ वीं शताब्दी की अंगरेज़ी पूंजीवादी क्रांति के दौरान शहरी और देहाती ग़रीब जनता के हितों का प्रतिनिधित्व करते थे।—संपादक

आदर्श-सामाजिक परिस्थितियों के काल्पनिक चित्र* खींचे गये और अठारहवीं सदी में तो सचमुच साम्यवादी सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया (जैसे मोरेली और मैब्ली द्वारा)। समानता की मांग राजनीतिक अधिकारों तक ही सीमित न रही, व्यक्ति की सामाजिक अवस्थाओं में भी समानता स्थापित करने की मांग की गयी! वर्ग-विशेषाधिकारों को ही नहीं, खुद वर्ग-भेद को मिटा देना था। इस नयी शिक्षा ने सबसे पहले एक ऐसे साम्यवाद का रूप धारण किया, जो कठोर, त्यागपूर्ण जीवन के आदर्श में विश्वास करता था और सांसारिक सुखों को त्याज्य समझता था। इसके बाद काल्पनिक समाजवाद के तीन महान् प्रवर्तक आये—सेंट-साइमन, जिनके लिए अभी तक सर्वहारा वर्ग के आंदोलन के साथ-साथ मध्यवर्ग के आंदोलन का भी महत्व था; फ़ूरिये; और ओवेन जिन्होंने देश में, जहां पूंजीवादी उत्पादन का सबसे अधिक विकास हो चुका था, इस विकास से उत्पन्न वर्ग-विरोधों से प्रभावित होकर वर्ग-भेद को मिटा देने की अपनी योजनाओं को व्यवस्थित रूप से तैयार किया, और उन्हें तैयार करने में फ़्रांसीसी भौतिकवाद के साथ प्रत्यक्ष संबंध स्थापित किया।

तीनों में एक समानता थी। ऐतिहासिक विकास ने इस बीच जिस सर्वहारा वर्ग को जन्म दिया था, इनमें से कोई भी उसके हितों के प्रतिनिधि के रूप में सामने नहीं आता। फ़्रांसीसी दार्शनिकों की ही तरह वे शुरू में एक विशेष वर्ग को नहीं, बल्कि एक साथ समूची मानवता को ही स्वतंत्र करने का दावा करते थे। उन्हीं की तरह वे विवेक तथा शाश्वत न्याय का राज्य स्थापित करना चाहते थे, पर इस राज्य की

---

*एंगेल्स ने यहां काल्पनिक समाजवादी टामस मूर (सोलहवीं शताब्दी) और टम्मासो कैंपानेला (सत्रहवीं शताब्दी) की कृतियों की ओर संकेत किया है।—संपादक

उनकी धारणा और फ़्रांसीसी दार्शनिकों की धारणा में आकाश-पाताल का अंतर था।

कारण, हमारे इन तीन समाज-सुधारकों की दृष्टि में, फ़्रांसीसी दार्शनिकों के सिद्धान्तों पर आधारित यह पूंजीवादी जगत भी उतना ही असंगत और अन्यायपूर्ण है, और इसलिए सामंतवाद और समाज की सभी पुरानी व्यवस्थाओं की तरह उसकी जगह भी कूड़ेखाने में ही है। यदि अभी तक संसार में विशुद्ध बुद्धि और न्याय का शासन स्थापित नहीं हो सका, तो इसका कारण यही है कि लोगों ने इसे ठीक से समझा नहीं। संसार को एक महान् प्रतिभावान् पुरुष की आवश्यकता थी। अब यह महापुरुष उत्पन्न हो गया है और उसने सत्य को परख लिया है। परंतु उसका उत्पन्न होना और सत्य का परखा जाना एक अनिवार्य घटना न थी, ऐतिहासिक विकास की शृंखला की एक आवश्यक कड़ी न थी, बल्कि एक सुखद संयोग था। वह पांच सौ वर्ष पहले भी उत्पन्न हो सकता था, और अगर ऐसा हुआ होता तो मानवता पांच सौ वर्षों की भूलों, परेशानियों और झगड़ों से बच जाती।

हम देख चुके हैं कि किस तरह फ़्रांसीसी क्रांति के अग्रदूत, अठारहवीं शताब्दी के फ़्रांसीसी दार्शनिकों ने, एकमात्र विवेक को हर वस्तु की कसौटी माना। उनके अनुसार एक विवेकपूर्ण राज्य और एक विवेकपूर्ण समाज की स्थापना करना आवश्यक था और जो वस्तु इस शाश्वत विवेक से मेल न खाये, उसे निर्मम भाव से नष्ट कर देना था। हम यह भी देख चुके हैं कि यह शाश्वत विवेक वस्तुतः पूंजीवादी के रूप में पनपते हुए अठारहवीं सदी के शहरी मध्यवर्ग का तथाकथित आदर्श मात्र था। विवेकपूर्ण समाज और राज्य की यह धारणा फ़्रांसीसी क्रांति के रूप में साकार हुई।

परंतु यह नयी व्यवस्था, पुरानी अवस्थाओं की अपेक्षा अधिक विवेकपूर्ण होते हुए भी सर्वथा विवेकपूर्ण न निकली। जिस राज्य को विवेक के आधार

पर क़ायम किया गया था, वह बिल्कुल ढह गया। रूसो के सामाजिक समझौते की परिणति आतंक राज्य में हुई और पूंजीवादी वर्ग ने, जिसे अपनी राजनीतिक योग्यता में विश्वास न रह गया था, इस आतंक से बचने के लिए, पहले तो 'डाइरेक्टरेट' के भ्रष्टाचार का सहारा लिया, और फिर नेपोलियन की स्वेच्छाचारिता की शरण ली। जिस शाश्वत शांति की प्रतिश्रुति दी गयी थी, वह प्रभुता और अधिकार के लिए निरंतर युद्ध में बदल गयी। उनके विवेक-समाज की भी यही हालत हुई। अमीर और ग़रीब का विरोध सब की समृद्धि में विलीन तो हुआ नहीं, शिल्प-संघ के तथा अन्य प्रकार के जिन विशेषाधिकारों ने इस विरोध को कुछ हद तक मुलायम किया था, उनके नष्ट हो जाने से, और गिरजों की दान-संस्थाओं के भंग हो जाने से, यह विरोध और भी उग्र हो गया। सामंती बंधनों से 'सम्पत्ति की स्वतंत्रता' अब वस्तुतः प्राप्त हो गयी थी, लेकिन छोटे पूंजीपतियों और छोटे किसानों के लिए, जो बड़े-बड़े पूंजीपतियों और ज़मींदारों की ज़बर्दस्त होड़ से दबे हुए थे, यह स्वतंत्रता इन महाप्रभुओं के हाथ अपनी लघु सम्पत्ति बेंच देने की स्वतंत्रता ही निकली और इस प्रकार जहां तक छोटे पूंजीपतियों और किसानों का संबंध था, सम्पत्ति की स्वतंत्रता, 'सम्पत्ति से वंचित होने की स्वतंत्रता' बन गयी। पूंजीवादी आधार पर उद्योग के विकास ने मेहनतकश जनता की तकलीफ़ और ग़रीबी को समाज के अस्तित्व की एक शर्त बना दी। कार्लाइल के शब्दों में आदमी-आदमी का एकमात्र संबंध नक़द लेन-देन ही रह गया। अपराधों की संख्या हर साल बढ़ने लगी। पहले सामंती बुराइयां बेरोकटोक और खुलेआम होती थीं, अब वह दूर तो नहीं हुईं, लेकिन कम से कम पृष्ठभूमि में ज़रूर पड़ गयीं। उनकी जगह पूंजीवादी बुराइयां, जो अभी तक चुपके-चुपके होती रहती थीं, अब खूब फूलने-फलने लगीं। व्यापार अधिकाधिक धोखा और फ़रेब बनता गया। 'विश्व-बंधुत्व' के क्रांतिकारी आदर्श का स्थान

व्यापारिक होड़ के छल-कपट और ईर्ष्या-द्वेष ने ले लिया। ज़ोर-ज़ुल्म-ज़बर्दस्ती की जगह भ्रष्टाचार ने ले ली, सामाजिक शक्ति का मुख्य अस्त्र तलवार की जगह रुपया हो गया। 'पहली रात बिताने का अधिकार' सामंती प्रभुओं के हाथ से निकलकर पूंजीवादी कारख़ानेदारों के हाथ में आ गया। वेश्यावृत्ति इतनी बढ़ गयी कि पहले कभी ऐसा सुना भी नहीं गया था। विवाह पहले ही की तरह वेश्यावृत्ति को ढंक रखने का एक आवरण, उसका एक क़ानून द्वारा स्वीकृत रूप रहा, और साथ ही साथ व्यभिचार भी ख़ूब होता रहा।

संक्षेप में दार्शनिकों ने जो सुंदर आशायें बंधायी थीं, उनकी तुलना में 'विवेक की विजय' द्वारा उत्पन्न सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थायें घोर निराशाजनक थीं और इन आशाओं का मखौल भर थीं। कमी केवल उन लोगों की थी, जो इस निराशा को वाणी दे सकें। अठारहवीं शताब्दी का अंत होते होते ऐसे लोग भी उत्पन्न हो गये। १८०२ में सेंट-साइमन के 'जेनेवा के पत्र' प्रकाशित हुए; १८०८ में फ़ूरिये की पहली पुस्तक निकली, यद्यपि उसके सिद्धान्त का ढांचा १७९९ में ही तैयार हो गया था; पहली जनवरी, १८०० को रावर्ट ओवेन ने न्यू-लेनार्क का संचालन अपने हाथ में लिया।

लेकिन उन दिनों पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली और उसके साथ पूंजीवादी वर्ग और सर्वहारा वर्ग का विरोध, अत्यंत अविकसित अवस्था में था। आधुनिक उद्योग का आरंभ इंगलैंड में तो हो चुका था, परंतु फ़्रांस में अभी भी उसका कहीं पता न था। आधुनिक उद्योग एक ओर तो उन विरोधों को विकसित करता है, जिनके कारण उत्पादन प्रणाली में क्रान्ति और उसके पूंजीवादी स्वरूप का अंत आवश्यक हो जाता है—और यह विरोध उन वर्गों का ही विरोध नहीं है, जिन्हें आधुनिक उद्योग ने जन्म दिया है, वल्कि स्वयं उत्पादन-शक्तियों और विनिमय-पद्धतियों का विरोध है।

और दूसरी ओर, वह इन्हीं विराट उत्पादन-शक्तियों द्वारा इन विरोधों का अंत करने के साधन भी विकसित करता है। इसलिए अगर १८०० के आस-पास, इस नयी सामाजिक व्यवस्था से उत्पन्न होनेवाले विरोध आकार ग्रहण ही कर रहे थे, तो यह बात उनका अंत करनेवाले साधनों के विषय में और भी ज्यादा लागू होती थी। फ़्रांसीसी क्रांति के आतंक-राज्य के दिनों में पेरिस की धनहीन जनता थोड़े समय के लिए समाज पर हावी हो गयी थी, और इस तरह उसके नेतृत्व में, स्वयं पूंजीवादी वर्ग की इच्छा के खिलाफ़ पूंजीवादी क्रांति विजयी हुई थी। परंतु इससे यह भी सिद्ध हो गया कि उन अवस्थाओं में उनके प्रभुत्व का स्थायी हो सकना कितना असंभव था। इसी धनहीन जनता से सर्वहारा वर्ग का, एक नये वर्ग के रूप में, पहली बार विकास हुआ। अभी यह वर्ग स्वतंत्र राजनीतिक कृति के सर्वथा अयोग्य था। वह एक ऐसी शोषित, पीड़ित श्रेणी के रूप में सामने आया, जो अपनी सहायता आप करने में असमर्थ था, और उसे सहायता अगर पहुंच सकती थी, तो ऊपर से या बाहर से ही।

समाजवाद के प्रवर्तक भी इस ऐतिहासिक परिस्थिति के अधीन थे। पूंजीवादी उत्पादन की तथा वर्ग-संबंधों की अपरिपक्व अवस्था के अनुरूप ही अपरिपक्व सिद्धांत निकले। सामाजिक समस्याओं का समाधान अभी तक अविकसित आर्थिक अवस्थाओं के गर्भ में छिपा हुआ था, किन्तु इन कल्पनावादियों ने उसे मानव-मस्तिष्क में से ढूंढ निकालने की कोशिश की। समाज में अन्याय ही अन्याय थे, मनुष्य के विवेक का यह काम था कि उन्हें दूर करे। इसलिए यह आवश्यक था कि एक नयी और अधिक निर्दोष समाज-व्यवस्था का आविष्कार किया जाये, और उसे बाहर से, प्रचार द्वारा, या जहां संभव हो, आदर्श-प्रयोगों के उदाहरण द्वारा, समाज के ऊपर लाद दिया जाये। इन नयी समाज व्यवस्थाओं का काल्पनिक और अवास्तविक होना पहले से निश्चित था, जितने विस्तृत रूप

से उनकी योजनायें बनायी गयीं, उतनी ही वे निरी हवाई बातें होकर रह गयीं।

इन तथ्यों के एक बार निश्चित हो जाने के बाद, हमारे लिए प्रश्न के इस पक्ष पर और ध्यान देना आवश्यक नहीं है, क्योंकि अब वह एक बिलकुल अतीत की बात है। हम यह काम साहित्य-जगत के छुटभैयों के लिए छोड़ सकते हैं कि वे इन हवाई बातों को लेकर, जिनके ऊपर आज हमें हंसी ही आती है, उधेड़बुन करें, बड़ी संजीदगी के साथ बाल की खाल निकालें और कल्पनावादियों की इस 'विक्षिप्त कल्पना' की तुलना में अपने बुद्धिमानीपूर्ण तर्क की श्रेष्ठता का राग अलापें। जहां तक हमारा संबंध है, हमें उन महान् विचारों और विचारों के अंकुरों पर असीम आनंद होता है, जो हर जगह अपने काल्पनिक आवरण से बाहर झांकते दिखाई देते हैं, और जिन्हें ये सिद्धान्त-विहीन कूपमंडूक देख नहीं सकते।

सेंट-साइमन महान फ़ांसीसी क्रांति की संतान थे, और जिस समय क्रांति हुई, उनकी अवस्था तीस वर्ष की भी न हुई थी। यह क्रांति राज्य की तृतीय श्रेणी की विजय थी, अर्थात् विशेषाधिकार संपन्न निठल्ले वर्गों के ऊपर, सामंतों और पुरोहितों के ऊपर, उत्पादन और व्यापार में काम करनेवाली राष्ट्र की विशाल जनता की विजय थी। परन्तु तृतीय श्रेणी की विजय का यथार्थ रूप बहुत जल्द प्रकट हो गया और यह मालूम हो गया कि यह विजय इस 'श्रेणी' के एक बहुत छोटे-से भाग की ही विजय थी; उसका अर्थ था राजनीतिक सत्ता पर उसके विशेषाधिकार संपन्न भाग का यानी जायदादवाले पूंजीवादियों का अधिकार। और बेशक क्रांति के दौरान में यह पूंजीवादी बड़ी तेज़ी से बढ़े थे—कुछ हद तक सामंतों और गिरजों की जिन ज़मीनों को पहले ज़ब्त कर लिया गया और बाद में नीलाम पर चढ़ाया गया, उनमें सट्टेबाज़ी करके, और कुछ हद तक फ़ौजी ठेकों के ज़रिये राष्ट्र को लूटकर। डाइरेक्टरेट के ज़माने में इन धोखेबाज़ों की

तूती बोलती थी और उन्होंने देश को विनाश के कगार पर पहुंचा दिया, और उनके कारण नेपोलियन को ज़बर्दस्ती राज्य हथिया लेने का एक बहाना मिल गया।

इसीलिए सेंट-साइमन की दृष्टि में तृतीय श्रेणी और विशेषाधिकार सम्पन्न वर्गों का जो विरोध था, उसने 'मज़दूरों' और 'निठल्लों' के विरोध का रूप ग्रहण किया। इन निठल्लों में पुराने विशेषाधिकार सम्पन्न वर्ग ही नहीं थे, बल्कि वह सभी लोग थे, जो उत्पादन अथवा वितरण में भाग लिये बिना, अपनी आय पर जीवन-यापन करते थे। और मज़दूरों में मज़दूरी पर काम करनेवाला मज़दूर-वर्ग ही नहीं था, उनमें कारख़ानेदार, व्यापारी और बैंकर भी थे। निठल्ले वर्गों में बौद्धिक नेतृत्व और राजनीतिक प्रभुत्व की योग्यता नहीं रह गयी थी। यह बात प्रमाणित हो चुकी थी और क्रांति ने इस बात को अन्तिम रूप से निश्चित कर दिया। आतंक-राज्य के अनुभव से सेंट-साइमन के निकट यह भी प्रत्यक्ष-सा था कि सम्पत्तिहीन वर्गों में भी यह योग्यता न थी। तब प्रश्न यह था कि कौन नेतृत्व करे और आदेश दे? सेंट-साइमन मानते थे कि विज्ञान और उद्योग, दोनों एक नये धार्मिक सूत्र में बंधकर, धार्मिक विचारों की उस एकता को फिर से स्थापित करेंगे, जो सुधार-आंदोलन के ज़माने से नष्ट हो गयी थी—यह एक 'नया ईसाई धर्म' था, जो निश्चित रूप से रहस्यवादी था और जिसके अंदर पदों की एक क्रमबद्ध और कठोर व्यवस्था की कल्पना की गयी थी। विज्ञान का मतलब था विद्वानों से; और उद्योग का, सबसे पहले, काम करनेवाले पूंजीवादियों, कारख़ानेदारों, व्यापारियों और बैंकरों से। सेंट-साइमन ने निश्चय ही यही उद्देश्य रखा था कि यह पूंजीवादी स्वतः सार्वजनिक अफ़सरों में, समाज के संरक्षकों में बदल जायेंगे; लेकिन फिर भी मज़दूरों की अपेक्षा उनका दरजा ऊंचा रहेगा और आर्थिक क्षेत्र में उनकी एक विशेष स्थिति रहेगी। उनकी व्यवस्था में बैंकरों पर ख़ास

तौर पर यह ज़िम्मेदारी डाली गयी थी कि वे उधार-व्यवस्था के नियमन द्वारा समाज के समूचे उत्पादन का संचालन करें। यह धारणा एक ऐसे युग के सर्वथा अनुरूप थी, जब फ़्रांस में आधुनिक उद्योग का और उसके साथ पूंजीवादी और सर्वहारा वर्ग के विरोध का जन्म हो ही रहा था। परंतु सेंट-साइमन ने जिस चीज़ पर ख़ास तौर से ज़ोर दिया, वह यह था: जिस चीज़ में उन्हें सबसे पहले और सबसे ज़्यादा दिलचस्पी थी, वह उस वर्ग का भाग्य था, जो संख्या में सबसे ज़्यादा था और सबसे ज़्यादा ग़रीब भी था ("la classe la plus nombreuse et la plus pauvre")।

सेंट-साइमन ने अपने 'जेनेवा के पत्र' में पहले से ही यह सिद्धांत निर्धारित कर दिया था कि "हर मनुष्य को काम करना चाहिए।" इसी पुस्तक में उन्होंने यह भी माना है कि आतंक-राज्य धनहीनों का राज्य था। और इस धनहीन जन-समुदाय को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा, "तुम्हारे साथियों के शासन-काल में फ़्रांस में क्या हुआ, देखो। उन्होंने अकाल की हालत पैदा कर दी।" परंतु फ़्रांसीसी क्रांति को एक वर्ग-युद्ध के रूप में स्वीकार करना, और वह भी केवल सामंत वर्ग और पूंजीवादी वर्ग के ही नहीं, बल्कि सामंतों, पूंजीवादियों और धनहीनों के बीच वर्ग-युद्ध के रूप में स्वीकार करना, सन् १८०२ में यह एक अत्यंत महत्वपूर्ण और अर्थगर्भित आविष्कार था। १८१६ में उन्होंने घोषणा की कि राजनीति उत्पादन का विज्ञान है। उन्होंने यह भविष्यवाणी की कि राजनीति अर्थशास्त्र में सम्पूर्ण रूप से विलीन हो जायेगी। इस बात का ज्ञान कि आर्थिक परिस्थिति ही राजनीतिक संस्थाओं का आधार है, यहां बीज रूप में ही दिखाई देता है। फिर भी यह विचार अभी से यहां स्पष्ट रूप से व्यक्त किया गया है कि भविष्य में व्यक्तियों के ऊपर होनेवाला राजनीतिक शासन वस्तुओं के प्रबंध में और उत्पादन की प्रक्रियाओं के संचालन में बदल दिया जायेगा – दूसरे शब्दों में, "राज्यसत्ता का

अंत" हो जायेगा, ठीक वही वात, जिसे लेकर इधर इतना शोर हुआ है।

अपने समकालीन विचारकों की तुलना में सेंट-साइमन की यह श्रेष्ठता एक वार फिर प्रकट हुई, जब १८१४ में पेरिस में मित्र-सेनाओं के प्रवेश के तुरंत वाद, और फिर १८१५ में शतवासरीय युद्ध के समय, उन्होंने यह घोषणा की कि फ़्रांस और इंगलैंड की मैत्री, और इन दोनों देशों की जर्मनी के साथ मैत्री ही, यूरोप की समृद्धि, विकास और शांति की एकमात्र गारंटी हो सकती है। १८१५ में फ़्रांसीसियों को वाटरलू के विजेताओं के साथ मैत्री करने का उपदेश देने के लिए साहस और ऐतिहासिक दूरदृष्टि, दोनों की समान रूप से आवश्यकता थी।

अगर हम सेंट-साइमन में एक इतना व्यापक दृष्टिकोण पाते हैं, कि वाद में आनेवाले समाजवादियों के प्रायः सभी विचार, जो विशुद्ध रूप से आर्थिक नहीं हैं, उनमें वीज रूप में वर्तमान हैं, तो फ़ूरिये की कृतियों में हम उनके युग की सामाजिक अवस्थाओं की एक ऐसी आलोचना पाते हैं, जो विशिष्ट रूप से फ़्रांसीसी है, और परिहास लिये है, लेकिन जो इस कारण कम सर्वांगपूर्ण नहीं है। फ़ूरिये ने पूंजीवादी वर्ग को, क्रांति से पहले के उसके उत्साही पैग़म्बरों को और क्रांति के बाद के उसके मतलवी चाटुकारों को, उन्हीं के वक्तव्यों की कसौटी पर परखा है। उन्होंने पूंजीवादी संसार की भौतिक और नैतिक हीनता और दरिद्रता को निर्ममतापूर्वक उघाड़कर रख दिया। और इस वास्तविकता के मुक़ावले उन्होंने पहले के दार्शनिकों के चका-चौंध में डाल देनेवाले उन वचनों को रखा, जो कहते थे कि एक ऐसे समाज का जन्म होगा, जिसमें विवेक का ही राज्य होगा; एक ऐसी सभ्यता पनपेगी, जिसमें सब लोग सुखी होंगे, जिसमें मनुष्य के विकास की अनंत संभावनायें होंगी। उन्होंने इस वास्तविकता के मुक़ावले अपने समय के पूंजीवादी विचारकों की लच्छेदार बातों को भी रखा और

यह दिखा दिया कि हर जगह बातें खूब लंबी-चौड़ी की जाती हैं, लेकिन वास्तविकता अत्यन्त दयनीय है। उन्होंने अपने तीखे व्यंग्य से निरर्थक शब्दों के इस जाल को छिन्न-भिन्न कर डाला।

फ़ूरिये केवल आलोचक ही नहीं थे, उनकी शांत और कभी विचलित न होनेवाली प्रकृति ने उन्हें एक व्यंगकार, और सच पूछिये तो संसार का एक महान् व्यंगकार बना दिया था। जितने सशक्त और आकर्षक रूप से उन्होंने क्रांति के पतन के बाद फैलनेवाली सट्टेबाज़ी और धोखेबाज़ी का चित्रण किया, उतने ही सशक्त और आकर्षक रूप से उन्होंने फ़्रांसीसी व्यापार में फैली बनियौटी का भी चित्रण किया। यह बनियौटी उस समय के फ़्रांसीसी व्यापार की एक विशेषता थी। पूंजीवादी समाज में स्त्री के स्थान और स्त्री-पुरुष के संबंधों के पूंजीवादी स्वरूप की उनकी आलोचना इससे भी अधिक अधिकारपूर्ण है। उन्होंने सबसे पहले इस बात की घोषणा की कि किसी भी समाज में स्त्री की स्वाधीनता, पूरे समाज की स्वाधीनता का स्वाभाविक माप है।

परंतु समाज के इतिहास संबंधी अपनी धारणा में फ़ूरिये सबसे महान् हैं। उन्होंने इस इतिहास के पूरे विस्तार को विकास के चार युगों में बांटा — वन्यता, बर्बरता, पितृसत्ता और सभ्यता। यह अंतिम युग आज के नागरिक, पूंजीवादी समाज का, अर्थात् उस समाज-व्यवस्था का युग है, जिसने सोलहवीं शताब्दी के आरंभ में जन्म लिया। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि "बर्बरता के युग में जो बुराइयां सीधे-सादे ढंग से होती थीं, सभ्यता के युग में वह अत्यन्त जटिल, रहस्यमय, सन्देहपूर्ण और पाखंडपूर्ण बन जाती हैं" और सभ्यता, अपने ही अन्तर्विरोधों की परिधि में, "एक दूषित वृत्त" में चक्कर काट रही है। वह इन अन्तर्विरोधों को लगातार उत्पन्न करती है, लेकिन उन्हें सुलझा नहीं पाती; और इसलिए वह अपने इच्छित अथवा घोषित लक्ष्य के विपरीत लक्ष्य पर पहुंचती है, और इस तरह उदाहरण

के लिए, "सभ्यता के अन्तर्गत अत्यधिक प्रचुरता से ही ग़रीबी पैदा होती है।"

इस तरह हम देखते हैं कि फ़ूरिये ने द्वन्द्वात्मक प्रणाली का उसी अधिकार के साथ प्रयोग किया, जिस अधिकार के साथ उसके समकालीन हीगल ने। संपूर्णता की ओर मानव-विकास की असीम संभावनाओं की जो बात हुआ करती थी, इस द्वन्द्वात्मक प्रणाली का उन्होंने उसके विरुद्ध उपयोग किया और कहा कि प्रत्येक ऐतिहासिक युग में एक उत्थान की अवस्था होती है और एक अवसान की, और इस वक्तव्य को उन्होंने समस्त मानव-जाति के भविष्य पर लागू किया। कांट ने जैसे प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्र में यह विचार प्रकट किया था कि अंत में जाकर पृथ्वी का ही नाश हो जायेगा, उसी प्रकार इतिहास-विज्ञान में फ़ूरिये ने यह विचार रखा कि अंत में मनुष्य-जाति का ही नाश हो जायेगा।

फ़्रांस में जिस समय क्रांति का एक तूफ़ान पूरे देश में बह रहा था, उसी समय इंगलैंड में एक अधिक शांत क्रांति हो रही थी, लेकिन शांत होते हुए भी यह क्रांति कम ज़बर्दस्त न थी। भाप और कल-पुर्जे बनानेवाली मशीनें कारख़ानों को आधुनिक उद्योग-धंधों में बदल रही थीं, और इस तरह वे पूंजीवादी समाज के समूचे आधार में ही क्रांतिकारी परिवर्तन ला रही थीं। कारख़ानों के उत्पादन-काल में विकास की धीमी गति अब सचमुच उत्पादन के एक प्रबल, प्रचंड वेग में बदल गयी। लगातार बढ़ती हुई तेज़ी से समाज बड़े-बड़े पूंजीपतियों और धनहीन सर्वहारा वर्ग में विभक्त होने लगा। और इन दोनों के बीच पहले जैसा एक स्थिर मध्यवर्ग न रहा; उसकी जगह दस्तकारों और छोटे दूकानदारों का एक अस्थिर जनसमूह, आबादी का सबसे ढुलमुल हिस्सा था, जो एक अनिश्चित और संकटमय जीवन बिता रहा था।

इस नयी उत्पादन-प्रणाली के विकास का दौर अभी शुरू ही हुआ

था। अभी तक यह उत्पादन की सहज, नियमित प्रणाली थी, और उन अवस्थाओं में यही प्रणाली संभव भी थी। फिर भी अभी से ही यह प्रणाली भयंकर सामाजिक बुराइयों को जन्म दे रही थी—बड़े-बड़े शहरों के सबसे गंदे हिस्सों में झुण्ड के झुण्ड बेघरबार लोगों का रहना, सभी परम्परागत नैतिक बंधनों का, पितृसत्तात्मक अधिकार का, पारिवारिक संबंधों का शिथिल होना, मज़दूरों से, ख़ासकर औरतों और बच्चों से, बेहद काम लिया जाना, मज़दूर-वर्ग की संपूर्ण पस्तहिम्मती, जिसका कारण यह था कि वह यकायक नयी परिस्थितियों में—देहात से शहर में, कृषि से आधुनिक उद्योग में, जीवन की एक स्थिर, निश्चित अवस्था से रोज़ बदलनेवाली अनिश्चित अवस्था में—पड़ गया था।

ऐसी घड़ी में एक सुधारक के रूप में २९ वर्ष का एक कारख़ानेदार सामने आया—उसके चरित्र में शिशुवत् सरलता और उदात्तता थी, और इसके साथ ही वह उन थोड़े-से आदमियों में था, जो जन्मजात नेता होते हैं। राबर्ट ओवेन ने भौतिकवादी दार्शनिकों की शिक्षा को अंगीकार किया था—वह मानते थे कि मनुष्य का चरित्र एक ओर तो वंशगत गुणों पर, और दूसरी ओर व्यक्ति के जीवन पर, विशेष रूप से उसके विकास-काल के परिवेश पर, निर्भर है। उनके वर्ग के अधिकांश लोगों को औद्योगिक क्रांति में गड़बड़ी और अव्यवस्था ही दीख पड़ी; उन्होंने देखा कि बहती गंगा में हाथ धोने और इस गड़बड़ी से फ़ायदा उठाकर चटपट धनी बन जाने का यह एक अच्छा अवसर है। लेकिन ओवेन ने इस परिस्थिति में अपने प्रिय सिद्धान्त को व्यावहारिक रूप देने का और इस प्रकार अव्यवस्था में व्यवस्था लाने का सुअवसर देखा। मैंचेस्टर के एक कारख़ाने में जहां पांच सौ से ज्यादा आदमी काम करते थे, वह एक निरीक्षक की हैसियत से इस सिद्धांत का पहले ही सफल प्रयोग कर चुके थे। १८०० से १८२९ तक उन्होंने एक प्रबंधक-साझीदार की हैसियत से स्काटलैंड में न्यू-लेनार्क

की सूती मिल का इसी ढंग से, लेकिन और अधिक स्वाधीनता से संचालन किया। इसमें उन्हें इतनी ज्यादा सफलता मिली कि पूरे यूरोप में उनका नाम हो गया। उन्होंने जिस आवादी को हाथ में लिया, उसमें विविध तत्त्व थे और अधिकतर पस्तहिम्मत लोग थे; और इस आवादी को, जिसकी संख्या बढ़ते-बढ़ते २,५०० तक पहुंच गयी थी, उन्होंने एक आदर्श-वस्ती में बदल दिया, जिसमें शराब-खोरी, पुलिस, मैजिस्ट्रेट, मुक़द्दमेबाज़ी, क़ानूने-मुफ़लिसी, दान, वग़ैरह का नाम न था। और इसके लिए उन्होंने किया बस यह कि लोगों को मानवोचित परिस्थितियों में रखा और विशेष रूप से नयी पीढ़ी का सावधानी से पालन-पोषण किया। वह शिशु-पाठशालाओं के प्रवर्तक थे और उन्होंने न्यू-लेनार्क में इन पाठशालाओं को स्थापित किया। दो वर्ष की अवस्था से बच्चे स्कूल आने लगते, और वहां उन्हें इतना मज़ा आता कि उन्हें घर ले जाना मुश्किल हो जाता। जहां ओवेन के प्रतिद्वंदी अपने आदमियों से तेरह-चौदह घंटा काम लेते, न्यू-लेनार्क में रोज़ साढ़े-दस घंटे का ही काम होता। और जब रुई की दिक़्क़त की वजह से कारख़ाना चार महीने तक बंद रहा, तब मज़दूरों को पूरे वक़्त अपनी पूरी तनख़ाह मिलती रही। यह सब होने पर भी इस कारख़ाने का मूल्य दुगने से ज्यादा हो गया, और उससे आख़िर तक मालिकों को गहरा मुनाफ़ा होता रहा।

इसके बावजूद ओवेन संतुष्ट न थे। अपने मज़दूरों के लिए जो जीवन उन्होंने सुलभ बनाया था, उनकी दृष्टि में अभी भी उसके मानवोचित होने में बहुत कसर थी। "यह लोग अभी भी मेरी मर्ज़ी के ग़ुलाम थे।" उन्होंने उन्हें जिन अपेक्षाकृत सुविधापूर्ण परिस्थितियों में रखा था, वे अभी ऐसी न थीं कि उनमें बुद्धि और चरित्र का सभी दिशाओं में युक्तिसंगत विकास हो सकता; उनकी सभी क्षमताओं का उन्मुक्त विकास होना तो दूर की बात थी। "और तो भी २,५०० व्यक्तियों की इस आवादी का काम करनेवाला भाग समाज के लिए प्रति दिन जितना वास्तविक धन उत्पन्न

करता था, कुछ पचास साल कम पहले, उसे उत्पन्न करने के लिए ६,००,००० की आबादी के काम करनेवाले भाग की ज़रूरत पड़ती। मैंने अपने आपसे पूछा, ६,००,००० आदमी जितना धन खर्च करते, उससे २,५०० आदमी बहुत कम धन खर्च करते हैं, फिर शेष धन कहां चला जाता है?"*

इस प्रश्न का उत्तर स्पष्ट था। इस धन से कारखाने के मालिकों को उनकी लगायी पूंजी पर पांच प्रतिशत सूद और अलावा उसके ३,००,००० पौंड खरा मुनाफ़ा दिया जाता था। और जो बात न्यू-लेनार्क पर लागू होती थी, वह इंगलैंड के और सभी कारखानों पर और भी ज्यादा लागू होती थी। "मशीनों का इस्तेमाल चाहे जितना अधूरा रहा हो, लेकिन अगर उनके द्वारा यह नया धन उत्पन्न न किया गया होता, तो नेपोलियन के खिलाफ़ और समाज के अभिजातीय सिद्धांतों की रक्षा के लिए, यूरोप की लड़ाइयों को चलाया न जा सकता। और फिर भी मजदूर-वर्ग ने ही इस नयी शक्ति का सृजन किया था।"** इसलिए वही इस नयी शक्ति के फल का अधिकारी था। जिन विराट उत्पादन-शक्तियों का हाल में ही सृजन हुआ था और अभी तक जिनका उपयोग इनेगिने व्यक्तियों को मालामाल करने और जनता को ग़ुलाम बनाने के लिए किया गया था, ओवेन की दृष्टि में उन्होंने समाज के पुनर्निर्माण का एक

---

* ओवेन के स्मृतिपत्र, 'विचार तथा व्यवहार में क्रांति', पृष्ठ २१ से। ओवेन ने इसे "यूरोप के सभी लाल प्रजातंत्रवादियों, साम्यवादियों और समाजवादियों" को संबोधित करके लिखा था, और उसे १८४८ की फ़्रांस की अस्थायी सरकार के पास और "रानी विक्टोरिया तथा उनके उत्तरदायी मंत्रियों" के पास भी भेजा था।–(एंगेल्स का नोट)

** उपरोक्त पुस्तक, पृष्ठ २२। (एंगेल्स का नोट)

आधार प्रस्तुत कर दिया था, और भविष्य में उनका सब की सामान्य सम्पत्ति के रूप में, सब के सामान्य हित के लिए उपयोग होना था।

ओवेन का साम्यवाद इस विशुद्ध व्यावसायिक आधार पर क़ायम था। कहना चाहिए कि व्यावसायिक लेखे-जोखे के फलस्वरूप ही उसकी उत्पत्ति हुई। उसका यह व्यावहारिक रूप अंत तक बना रहा। इस तरह हम देखते हैं कि १८२३ में ओवेन ने आयरलैंड में पीड़ित लोगों के सहायतार्थ साम्यवादी बस्तियां स्थापित करने का प्रस्ताव रखा, और उनकी स्थापना के खर्च, सालाना खर्च और संभाव्य आय का एक पूरा तख़मीना लगाया। उन्होंने भविष्य की एक सुनिश्चित योजना, भविष्य का एक पूरा नक़्शा बनाया—जिसमें नींव का नक़्शा, सम्मुख, पार्श्व और विहंगम दृश्य, सभी दिये हुए थे—और उसका प्राविधिक ब्योरा तैयार करने में उन्होंने ऐसे व्यावहारिक ज्ञान का परिचय दिया कि अगर समाज-सुधार की ओवेन-पद्धति को एक बार स्वीकार कर लिया जाये, तो फिर तफ़सीली बातों के इन्तज़ाम के खिलाफ़ व्यावहारिक दृष्टि से शायद ही कोई एतराज़ किया जा सके।

साम्यवाद की दिशा में प्रगति करने के साथ ही ओवेन का जीवन भी एक नयी दिशा में मुड़ गया। जब तक वह परोपकारी सुधारक भर थे, उन्हें धन, प्रशंसा, सम्मान, गौरव, सब कुछ मिला। वह यूरोप के सबसे जनप्रिय व्यक्ति थे। उनके वर्ग के ही लोग नहीं, बल्कि राजे-महाराजे और राजनीतिज्ञ भी उनकी बात आदर के साथ सुनते थे और उनकी दाद देते थे। किन्तु जब उन्होंने अपने साम्यवादी सिद्धान्तों को पेश किया, परिस्थिति एकदम बदल गयी। समाज-सुधार के रास्ते में उन्हें खासकर तीन बड़ी कठिनाइयां दीख पड़ीं—व्यक्तिगत सम्पत्ति, धर्म और विवाह का प्रचलित रूप। वह जानते थे कि अगर उन्होंने इनपर आक्रमण किया, तो परिणाम क्या होगा—समाज से निष्कासन, सरकारी हलक़ों द्वारा बहिष्कार, उनकी संपूर्ण सामाजिक प्रतिष्ठा की हानि। लेकिन इन बातों

का डर उन्हें रोक न सका और उन्होंने परिणाम की चिंता किये विना उनपर आक्रमण किया, और जिस वात की उन्हें आशंका थी, वह होकर ही रही। सरकारी हलक़ों ने उनका वहिष्कार किया, प्रेस ने उनकी ओर मौन उपेक्षा का रुख़ अपनाया, अमरीका में होनेवाले असफल कम्यूनिस्ट प्रयोगों ने उन्हें चौपट कर दिया और उनमें उनकी सारी सम्पत्ति स्वाहा हो गयी। और तव उन्होंने अपना नाता सीधे मज़दूर-वर्ग से जोड़ा और उनके वीच तीस वर्षों तक काम करते रहे। इंगलैंड में मज़दूरों की हर वास्तविक प्रगति, हर सामाजिक आंदोलन के साथ ओवेन का नाम जुड़ा हुआ है। १८१९ में पांच वर्षों के संघर्ष के वाद उन्होंने कारख़ानों में औरतों और वच्चों के काम के घंटों पर रोक लगानेवाले पहले क़ानून को ज़ोर लगाकर पास कराया। ओवेन ही पहली मज़दूर-कांग्रेस के, जिसमें इंगलैंड के सभी मज़दूर-संघों ने मिलकर एक विशाल मज़दूर-संघ वनाया, सभापति थे। समाज के संपूर्ण साम्यवादी संगठन के लिए उन्होंने दो संक्रमणकालीन संस्थाओं को चलाया। एक ओर तो उन्होंने फुटकर व्यापार और उत्पादन के लिए सहकारी समितियां क़ायम कीं। तव से इन समितियों ने कम से कम इस वात का व्यावहारिक प्रमाण तो दे ही दिया है कि सामाजिक दृष्टि से व्यापारियों और कारख़ानेदारों की कोई आवश्यकता नहीं है। दूसरी ओर उन्होंने श्रम-वाज़ार चलाये। इन वाज़ारों में 'श्रम के नोट', जिनका हर युनिट काम का एक घंटा होता था, चलते थे, और यह नोट ही श्रम द्वारा उत्पादित वस्तुओं के विनिमय का माध्यम होते थे। इन संस्थाओं का असफल होना पूर्वनिश्चित था, लेकिन फिर भी हमें इन संस्थाओं में वहुत वाद में आनेवाले प्रूदों के विनिमय-वैंक की शक्ल पहले से तैयार मिलती है। फ़र्क़ यह है कि इन्होंने प्रूदों के वैंक की तरह अपने को तमाम सामाजिक वुराइयों का रामवाण-इलाज नहीं, वल्कि समाज की एक अधिक मौलिक क्रांति की दिशा में पहला क़दम वताया।

कल्पनावादियों की विचार-प्रणाली का उन्नीसवीं शताब्दी की समाजवादी धारणाओं पर बहुत दिनों तक प्रभाव रहा, और कुछ अंशों में अभी भी है। अभी हाल तक इंगलैंड और फ़्रांस के सभी समाजवादी उनके सामने शीश नवाते थे। और पहले का जर्मन साम्यवाद भी, जिसमें वाइटलिंग का साम्यवाद भी सम्मिलित है, इसी मत को मानता था। इन सबों के लिए समाजवाद निरपेक्ष सत्य, विवेक और न्याय की अभिव्यक्ति है, और एक बार जहां उसका आविष्कार हुआ नहीं कि वह अपनी ही शक्ति से सारे संसार को जीत लेगा। और चूंकि निरपेक्ष सत्य देश-काल और मनुष्य के ऐतिहासिक विकास से स्वतंत्र है, उसका आविष्कार कब और कहां होता है, यह एक निरी आकस्मिक बात है। इसके साथ ही हर मत के प्रवर्तक की निरपेक्ष सत्य, न्याय और विवेक की अपनी अलग धारणा है। और चूंकि निरपेक्ष सत्य, न्याय और विवेक की हर व्यक्ति की अपनी विशेष धारणा उसकी वैयक्तिक समझ, जीवन की परिस्थितियों, ज्ञान की मात्रा और बौद्धिक शिक्षण से निश्चित होती है, इसलिए निरपेक्ष सत्यों के इस विरोध का अंत यही हो सकता है, कि उनमें परस्पर समझौता हो। इससे एक प्रकार के औसत, खिचड़ी समाजवाद की ही उत्पत्ति हो सकती थी, और सच पूछिये तो अभी तक फ़्रांस और इंगलैंड के अधिकांश समाजवादी कार्यकर्ता इस समाजवाद से ही प्रभावित रहे हैं। इसलिए इस समाजवाद में हम तरह-तरह के विचारों का एक विचित्र-सा सम्मिश्रण पाते हैं—विभिन्न मतों के प्रवर्तकों के ऐसे आलोचनात्मक वक्तव्यों, आर्थिक सिद्धान्तों, भावी समाज की रूप-रेखाओं का सम्मिश्रण, जो कम से कम विरोध उत्पन्न करें। जैसे नदी की धारा में बहते हुए पत्थर गोल-मटोल हो जाते हैं, वैसे ही वाद-विवाद के भंवर में पड़कर यह विचार और सिद्धान्त जितना ही

घिस जाते हैं, उनका यह सम्मिश्रण उतनी ही आसानी से तैयार होता है।

समाजवाद को एक विज्ञान का रूप देने के पहले यह आवश्यक था कि उसे एक वास्तविक आधार पर प्रतिष्ठित किया जाये।

२

इसी बीच, अठारहवीं शताब्दी के फ़्रांसीसी दर्शन के साथ और उसके बाद एक नये जर्मन दर्शन का आविर्भाव हुआ। इस नये दर्शन की चरम परिणति हीगल की रचनाओं में हुई। इस दर्शन का सबसे बड़ा गुण यह था कि उसने द्वंद्ववाद को ही तर्क का सर्वोच्च स्वरूप माना और दर्शन के क्षेत्र में उसे फिर से प्रतिष्ठित किया। यूनान के प्राचीन दार्शनिक स्वभावतः, जन्मजात, द्वंद्ववादी थे और अरस्तू ने, जिसकी बुद्धि का विस्तार सबसे अधिक था, तभी द्वंद्ववादी विचार के प्रमुख मौलिक रूपों का विश्लेषण कर लिया था। नवीनतर दर्शन की स्थिति इसके विपरीत थी। उसके अनुयायियों में भी, यद्यपि (देकार्ते और स्पिनोज़ा जैसे) द्वंद्ववाद के प्रतिभाशाली व्याख्याकार थे, तो भी यह दर्शन विशेष रूप से अंगरेज़ दार्शनिकों के प्रभाव से तथाकथित अधिभूतवादी तर्क-प्रणाली के साथ अधिकाधिक बंधता गया। इस तर्क-प्रणाली से अठारहवीं शताब्दी के फ़्रांसीसी भी प्रायः संपूर्णतया प्रभावित थे—उनकी विशिष्ट दार्शनिक कृतियों पर तो बहरसूरत यह प्रभाव है ही। दर्शन को यदि एक संकुचित अर्थ में लें, तो उसके बाहर अवश्य इन फ़्रांसीसियों ने द्वंद्ववाद की अत्यंत उत्कृष्ट रचनायें प्रकाशित कीं। उदाहरण के लिए हम दिदेरो के 'Le Neveu de Rameau' ('रामो का भतीजा') और रूसो के 'Discours sur l'origine et les fondements de l'inégalité parmi les hommes' ('मानवों में असमानता की उत्पत्ति तथा उसके आधार की विवेचना') का नाम ले सकते हैं।

हम यहां संक्षेप में इन दोनों विचार-प्रणालियों के मौलिक स्वरूप का वर्णन करेंगे।

जब हम विस्तृत प्रकृति या मानव-जाति के इतिहास पर या अपने मन की प्रक्रियाओं पर विचार करते हैं तब पहले हमें क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं, संबंधों, विभिन्न तत्त्वों के योग और संयोजन से बना हुआ एक जाल-सा दिखाई देता है, जो कहीं खत्म नहीं होता, जिसमें कोई वस्तु स्थिर नहीं रहती, जो जहां जैसा था, वह वहां वैसा नहीं रहता, हर वस्तु गतिशील है, परिवर्तनशील है, हर वस्तु का निर्माण होता है और नाश होता है। इस प्रकार हम इस चित्र को पहले समग्र रूप में देखते हैं, उसके अलग-अलग हिस्से हमारी नज़र में नहीं पड़ते, वह न्यूनाधिक पृष्ठभूमि में ही रहते हैं। हम गति, संक्रमण और परस्पर संबंधों को देखते हैं, किन्तु जिन वस्तुओं की यह गति है, यह योग और संबंध हैं, हम उन्हें नहीं देख पाते। विश्व की यह धारणा आदिम और भोली-भाली है, लेकिन मूलतः वह ग़लत नहीं है, और प्राचीन यूनानी दर्शन की धारणा भी यही थी, जिसे स्पष्ट रूप से सबसे पहले हेराक्लाइटस ने प्रतिपादित किया था। उसने कहा था—हर वस्तु है और नहीं भी है, क्योंकि हर वस्तु अस्थिर है, सतत परिवर्तनशील है, सतत निर्माण और नाश की अवस्था में है।

लेकिन यह धारणा कुल मिलाकर दृश्य-जगत के चित्र के सामान्य स्वरूप को तो सही-सही व्यक्त करती है, लेकिन जिन तफ़सीलों से यह चित्र बना है, उनका विवरण देने के लिए पर्याप्त नहीं है। और जब तक हम इन्हें नहीं समझें, हम पूरे चित्र को साफ़ तौर पर समझ नहीं सकते। इन तफ़सीलों को समझने के लिए यह ज़रूरी है कि हम उन्हें उनके प्राकृतिक या ऐतिहासिक संबंधों से अलग करें और हर तफ़सील पर, चित्र के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंग पर अलग-अलग विचार करें; उसके

स्वरूप, उसके विशेष कारणों, कार्यों इत्यादि की, पृथक् रूप से परीक्षा करें। यह काम खास तौर पर प्रकृति-विज्ञान और ऐतिहासिक अनुसंधान का है, और यही विज्ञान की वह शाखायें हैं, जिन्हें प्राचीन काल के यूनानियों ने एक निचले दरजे में डाल दिया था, और इसका यथेष्ट कारण भी था, क्योंकि उन्हें सबसे पहले इन विज्ञानों के लिए सामग्री एकत्र करनी थी, जिसके आधार पर वह कार्य कर सकें। प्रकृति और इतिहास के संबंध में जब तक पहले कुछ सामग्री एकत्र न हो ले, तब तक आलोचनात्मक विश्लेषण, तुलना और वर्गों, श्रेणियों और जातियों के रूप में वर्गीकरण नहीं हो सकता। इसलिए वास्तविकता का यथातथ्य वर्णन करनेवाले प्रकृति-विज्ञान का आधार सबसे पहले अलेक्ज़ेंड्रियन काल* के यूनानियों ने और बाद में मध्ययुग के अरबों ने स्थापित किया। अपने यथार्थ रूप में प्रकृति-विज्ञान का आरंभ पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही होता है, और तब से इस विज्ञान ने लगातार बढ़ती हुई रफ़्तार से तरक़्क़ी की है। प्रकृति का विश्लेषण करके उसके अलग-अलग भाग करना, विभिन्न वस्तुओं और प्रक्रियाओं को निश्चित वर्गों या समूहों में एकत्र करना, अपने विविध रूपों में कार्बनीय पिंडों की आंतरिक शरीर-रचना का अध्ययन करना—पिछले चार सौ वर्षों में

---

*विज्ञान के विकास के अलेक्ज़ेंड्रियन काल में ई० पू० तीसरी शताब्दी से ईसा की सातवीं शताब्दी तक का समय लिया जाता है। इसका नाम मिस्र के नगर, अलेक्ज़ेंड्रिया पर पड़ा है, जो उस ज़माने में अंतर्राष्ट्रीय आर्थिक आदान-प्रदान का एक अत्यंत महत्वपूर्ण केन्द्र था। अलेक्ज़ेंड्रियन काल में गणित (यूक्लीड और आर्कमेडीज़), भूगोल, ज्योतिष, शरीर-रचना और शरीर-विज्ञान आदि का बहुत काफ़ी विकास हुआ था।—सम्पादक

प्रकृति-संबंधी हमारे ज्ञान में जो विराट प्रगति हुई है, उसकी यह बुनियादी शर्तें थीं। परंतु इस कार्य-प्रणाली ने हमारे लिए एक विरासत भी छोड़ी है, उसने हमारे अंदर ऐसी आदत डाल दी है कि हम प्राकृतिक वस्तुओं और प्रक्रियाओं को, संपूर्ण वास्तविकता से उनके संबंध को विच्छिन्न करके देखते हैं, उन्हें गति की नहीं विराम की स्थिति में, मूलतः परिवर्तनशील नहीं बल्कि स्थिर अवस्था में, जीवन की नहीं मृत्यु की अवस्था में देखते हैं। और जब बेकन और लाक इस दृष्टिकोण को प्रकृति-विज्ञान के क्षेत्र से दर्शन के क्षेत्र में ले आये, तब उस संकीर्ण, अधिभूतवादी विचार-प्रणाली का जन्म हुआ, जो पिछली शताब्दी की एक विशेषता रही है।

अधिभूतवादी के लिए वस्तु और वस्तुओं के मानस-चित्र, अर्थात् विचार, एक-दूसरे से विच्छिन्न और स्वाधीन हैं। वह उन्हें अनुसंधान की स्थिर, निश्चित और अपरिवर्तनीय सामग्री मानता है; उन्हें एक-दूसरे से अलग करके और एक के बाद एक देखता है। उसका चिन्तन ऐसे प्रतिवादों के रूप में होता है, जिनका परस्पर सामंजस्य हो ही नहीं सकता। "वह बात करता है, तो 'हां' में, या 'नहीं' में, और जो न 'हां' में है, और न 'नहीं' में, वह शैतान की शरारत है।" उसकी दृष्टि में या तो किसी वस्तु का अस्तित्व है या नहीं है, कोई वस्तु एक ही समय में जो वह है, उससे भिन्न नहीं हो सकती, भाव और अभाव पक्ष दोनों एक दूसरे से बिलकुल अलग हैं, दोनों में उभयनिष्ठ कुछ नहीं है। कार्य और कारण की कोटियां एक दूसरे के विपरीत हैं, और दोनों में कड़ा विरोध है।

पहली नज़र में यह विचार-प्रणाली अत्यंत परिष्कृत और स्पष्ट मालूम होती है, क्योंकि यह प्रणाली तथाकथित स्वस्थ व्यवहार-बुद्धि की प्रणाली है। परंतु यह स्वस्थ व्यवहार-बुद्धि अपने घर की चहारदीवारी के अंदर तो एक विश्वसनीय सहायक के रूप में बड़े मज़े से रह लेती है,

लेकिन जहां उसने अनुसंधान के विशाल जगत में पदार्पण किया नहीं कि वह वड़े खतरे में पड़ जाती है। कुछ क्षेत्रों में, जिनका विस्तार इस वात पर निर्भर है कि अनुसंधान के विशिष्ट विषय का स्वरूप क्या है, अधिभूतवादी विचार-प्रणाली आवश्यक और उचित है, परंतु न्यूनाधिक काल के वाद यह प्रणाली एक ऐसी सीमा पर पहुंच जाती है जिसके आगे ले जाने पर वह एकांगी, संकुचित, अमूर्त और अवास्तविक हो जाती है, और अमिट विरोधों के भंवर में पड़कर अपना रास्ता खो वैठती है। अलग-अलग वस्तुओं पर विचार करते समय अधिभूतवादी उनके परस्पर संवंधों को भूल जाता है, उनके अस्तित्व पर विचार करते समय वह उस अस्तित्व के आरंभ और अंत को भूल जाता है, उन्हें विराम-स्थिति में देखता है, लेकिन उनकी गति को भूल जाता है। वह वृक्षों के आगे वन को नहीं देख पाता।

मिसाल के तौर पर अपने रोज़मर्रा के काम के लिए हम यह जानते हैं और कह सकते हैं कि कोई प्राणी जीवित है या नहीं। लेकिन ग़ौर से देखने पर यह मालूम होता है कि यह अक्सर एक वहुत पेचीदा सवाल होता है। क़ानूनदां इस वात को अच्छी तरह जानते हैं। उन्होंने इस वात को लेकर वहुत माथापच्ची की है कि वह मुनासिव हद कौनसी है, जिसके आगे मां के गर्भ के वच्चे को नष्ट करने का मतलव है हत्या करना; और फिर भी वह इसको निश्चित नहीं कर पाये हैं। इसी प्रकार मृत्यु के क्षण को सम्पूर्ण रूप से निश्चित करना असंभव है, क्योंकि शरीर-विज्ञान ने यह प्रमाणित कर दिया है कि मृत्यु कोई आकस्मिक और क्षणभर में हो जानेवाली घटना नहीं है, वह एक वहुत लम्वी प्रक्रिया है।

इसी प्रकार प्रत्येक कार्वनीय पदार्थ हर क्षण में, जो वह है, उससे भिन्न भी है। वह हर क्षण वाहर से कुछ पदार्थ ग्रहण करता है और भीतर से कुछ अन्य पदार्थ खारिज करता है। हर क्षण उसके शरीर के

कुछ जीव-कोष मरते रहते हैं और कुछ नये जीव-कोष पुनर्निर्मित होते रहते हैं और इस तरह न्यूनाधिक समय में उसके शरीर का पदार्थ फिर से विलकुल नया हो जाता है, पुराने पदार्थ की जगह नये पदार्थ के अणु ले लेते हैं और इसलिए हम कह सकते हैं कि प्रत्येक कार्वनीय पदार्थ किसी समय में जो वह है, उससे भिन्न भी है।

इतना ही नहीं, सूक्ष्मतर निरीक्षण के वाद यह भी पता चलता है कि किसी प्रतिवाद के दोनो छोर, भाव-पक्ष और अभाव-पक्ष, जैसे एक दूसरे के विरोधी हैं, वैसे ही अभिन्न भी, और अपने सारे विरोध के वावजूद वे एक-दूसरे में अंतर्व्याप्त हैं। और इसी प्रकार हम देखते हैं कि कार्य तथा कारण की धारणायें तभी सार्थक हैं, जब हम उन्हें विशेष घटनाओं पर लागू करें। लेकिन जहां हम इन विशेष घटनाओं को समग्र रूप में अर्थात् विश्व के साथ सम्वद्ध रूप में देखते हैं, वे एक दूसरे से टकरा जाते हैं, और उनमें खासकर तव और भी गड़बड़ हो जाती है, जब हम उस विश्व-व्यापी क्रिया और प्रक्रिया पर ध्यान देते हैं जिनमें कारण और कार्य निरंतर स्थान वदलते रहते हैं। जो एक समय और एक स्थान पर कार्य है, वही दूसरे समय और दूसरे स्थान पर कारण वन जाता है। और इसी तरह जो कारण है, वह कार्य वन जाता है।

अधिभूतवादी तर्क-पद्धति का ढांचा तैयार करने में इन विचार प्रक्रियाओं और प्रणालियों का कोई हाथ नहीं है। इसके विपरीत द्वंद्ववाद वस्तुओं और उनके मानस-चित्रों, अर्थात् विचारों को, उनके वुनियादी संवंध, गति, आरंभ और अंत को ध्यान में रखकर ही ग्रहण करता है। इसलिए ऊपर जिन प्रक्रियाओं का हमने उल्लेख किया है, वे द्वंद्ववाद की अपनी कार्य-प्रणाली का समर्थन करती हैं।

द्वंद्ववाद का प्रमाण प्रकृति है, और यह मानना ही होगा कि आधुनिक विज्ञान ने इस प्रमाण के लिए अत्यंत मूल्यवान् सामग्री प्रस्तुत की है और

यह सामग्री प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। इस प्रकार विज्ञान ने यह दिखा दिया है कि अन्ततः प्रकृति अधिभूतवादी रूप से नहीं, द्वंद्वात्मक रूप से कार्य करती है ; वह एक सदा पुनरावर्तित वृत्त के अपरिवर्तनशील क्रम में चक्कर नहीं काटती, बल्कि वास्तविक ऐतिहासिक विकास के क्रम से गुज़रती है। इस संबंध में सबसे पहले डारविन का नाम लेना होगा। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया कि सभी कार्बनीय सत्तायें—वनस्पति, जीव तथा स्वयं मनुष्य विकास की एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न हुई हैं, जो करोड़ों साल से चलती आ रही है। इस तरह उन्होंने प्रकृति की अधिभूतवादी धारणा पर सबसे कठोर आघात किया। परंतु ऐसे प्रकृति-ज्ञानी बहुत कम हैं, जिन्होंने द्वंद्वात्मक रूप से विचार करना सीख लिया है, और अनुसंधान के निष्कर्षों तथा पूर्वकल्पित विचार-पद्धतियों के बीच इस विरोध के कारण, प्रकृति-विज्ञान के सैद्धांतिक क्षेत्र में बेहद गड़बड़ी फैली हुई है, जिससे शिक्षक तथा शिक्षार्थी, लेखक तथा पाठक, सभी को निराशा होती है।

इसलिए विश्व का, उसके विकास का, मानव-जाति के विकास का, और मानव-मन पर इस विकास के प्रतिबिंब का, सच्चा चित्र द्वंद्वात्मक प्रणाली के द्वारा ही मिल सकता है क्योंकि यही प्रणाली जीवन और मृत्यु, पुरोगामी और प्रतिगामी परिवर्तनों की असंख्य क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं को सदा ध्यान में रखती है। नवीन जर्मन दर्शन इसी भावना को लेकर चला है। अपना दार्शनिक जीवन आरंभ करते ही कांट ने न्यूटन की एक स्थायी सौर-मण्डल की धारणा को बदल डाला। न्यूटन का विचार था कि यह सौर-मण्डल, एक बार आरंभ में उसे जो वेग मिला—प्राथमिक वेग का यह सिद्धांत प्रसिद्ध हो चुका है—उसके बाद से एक शाश्वत सतत अपरिवर्तनशील क्रम से चल रहा है। लेकिन कांट ने कहा कि यह सौर-मण्डल एक ऐतिहासिक क्रम का, एक चक्कर काटते हुए

वाष्पपुंज से सूर्य तथा सभी ग्रहों के निर्माण का परिणाम है। इससे उन्होंने साथ ही यह निष्कर्ष भी निकाला कि यदि सौर-मण्डल की उत्पत्ति इसी प्रकार हुई है, तो भविष्य में उसका विनाश भी निश्चित है। आधी शताब्दी बाद, लैपलेस ने कांट के इस सिद्धांत को गणित के आधार पर प्रमाणित कर दिया और इसके भी आधी शताब्दी बाद वर्णपट-दर्शक यंत्र (स्पेक्ट्रोस्कोप) का आविष्कार होने पर यह प्रमाणित हो गया कि आकाश में ऐसे चमकते हुए वाष्पपुंज हैं, और यह वाष्पपुंज घनीकरण की विभिन्न अवस्थाओं में हैं।

इस नये जर्मन दर्शन का चरम विकास हीगल की व्यवस्था में हुआ। इस व्यवस्था में–और यही इसकी बहुत बड़ी खूबी है–यह पूरा जगत–प्राकृतिक, ऐतिहासिक तथा मानसिक जगत–पहली बार एक प्रक्रिया के रूप में, अर्थात् सतत प्रवाह, गति, परिवर्तन तथा विकास की अवस्था में चित्रित किया गया है, और साथ ही उस आंतरिक संबंध को, उस सूत्र को पकड़ने की कोशिश की गयी है, जिससे इस समस्त गति और विकास को एक क्रमबद्ध व्यवस्था का रूप मिल सके। इस दृष्टिकोण से मानव-जाति का इतिहास निरर्थक, हिंसक कार्यों का आवर्त न रह गया–ऐसे कार्यों का आवर्त जो परिपक्व दार्शनिक बुद्धि के न्याय-सिंहासन के सम्मुख सबके सब समान रूप से हेय तथा निंदनीय हैं, और जिन्हें शीघ्र से शीघ्र भूल जाना ही श्रेयस्कर है–बल्कि इस दृष्टि से यह इतिहास स्वयं मनुष्य के विकास की प्रक्रिया के रूप में दीख पड़ा। अब यह काम बुद्धि का था कि वह इस प्रक्रिया के टेढ़े-मेढ़े रास्ते से क्रमिक विकास की गति को परखे, और जो घटनायें ऊपर से देखने में आकस्मिक जान पड़ती हैं उनमें अन्तर्निहित नियम को खोज निकाले।

हीगल की व्यवस्था ने जिस समस्या को विचार के लिए प्रस्तुत किया, उसे वह सुलझा न पायी, लेकिन इस बात का कोई महत्व नहीं

है। उसका युगान्तरकारी महत्व इस वात में है कि उसने उस समस्या को प्रस्तुत किया। यह समस्या ही ऐसी है कि कोई एक व्यक्ति उसे कभी सुलझा नहीं पायेगा। संट-साइमन के साथ, हीगल अपने युग में सबसे व्यापक चेतना रखनेवाले व्यक्ति थे, जिनका मस्तिष्क सचमुच विराट था; तब भी वह सबसे पहले अपने ज्ञान की अनिवार्य सीमा से, और दूसरे अपने युग के, विस्तार और गहराई, दोनों में सीमित ज्ञान और धारणाओं की सीमा से बंधे हुए थे। इनके बाद एक तीसरी सीमा भी थी। हीगल आदर्शवादी थे। उनके निकट उनके मस्तिष्क के विचार वास्तविक वस्तुओं और क्रियाओं के निराकार प्रतिबिंब न थे, उल्टे यह वस्तुयें और उनका विकास 'विचार' का व्यक्त, मूर्त और प्रतिफलित रूप था, और इस 'विचार' का संसार के पहले से ही, अनादि काल से अस्तित्व रहा है। इस चिन्तन-प्रणाली ने हर चीज़ को सिर के बल खड़ा कर दिया, और संसार में वस्तुओं के यथार्थ संबंध को विल्कुल उलट डाला। और यद्यपि हीगल ने कितने ही विशिष्ट तथ्य-समूहों को ठीक-ठीक और बड़ी सूझ-बूझ के साथ समझा, फिर भी उपरोक्त कारणों से हीगल की रचनाओं में बहुत कुछ ऐसा है, जो भोंड़ा है, बनावटी है, ज़बर्दस्ती किसी तरह ठूंसा गया है—एक शब्द में कहें तो तफ़सीली बातों में ग़लत है। हीगल की व्यवस्था में विचारों का एक भयंकर गर्भपात हुआ है, परंतु यह अंतिम बार ऐसा हुआ। वास्तव में यह व्यवस्था एक ऐसे आंतरिक विरोध से पीड़ित थी, जिसका कोई इलाज न था। एक ओर उसकी मूल स्थापना यह धारणा थी कि मानव-इतिहास विकास की एक प्रक्रिया है, जिसकी स्वभावतः यह परिणति कभी नहीं हो सकती कि किसी तथाकथित निरपेक्ष सत्य के आविष्कार को बुद्धि की चरम सीमा मान ली जाये। परंतु दूसरी ओर इस व्यवस्था का यह दावा था कि वह इसी निरपेक्ष सत्य का सार है। प्राकृतिक तथा ऐतिहासिक ज्ञान की एक

ऐसी व्यवस्था, जो सर्वव्यापी हो, सदा के लिए निश्चित हो और अन्तिम सत्य हो, द्वंद्ववादी तर्क-पद्धति के मूलभूत नियम के प्रतिकूल है। और यह विचार कि वाह्य जगत के विषय में हमारा व्यवस्थित ज्ञान, एक युग से दूसरे युग तक विराट प्रगति कर सकता है, इस नियम से बाहर नहीं, प्रत्युत उसके अन्तर्गत है।

जर्मन आदर्शवाद के इस मौलिक अन्तर्विरोध की उपलब्धि का फल यह हुआ कि दार्शनिकों का झुकाव फिर भौतिकवाद की ओर हुआ, लेकिन ध्यान देने की बात यह है कि, यह भौतिकवाद अठारहवीं सदी के अधिभूतवादी, बिलकुल यांत्रिक भौतिकवाद से भिन्न था। पुराने भौतिकवाद की दृष्टि में समस्त पूर्वकालीन इतिहास हिंसा और निर्बुद्धिता का एक पुंज है, परंतु आधुनिक भौतिकवाद की दृष्टि में यह इतिहास मानवता के विकास की एक निश्चित प्रक्रिया है, और उसका लक्ष्य है इस विकास के नियमों का पता लगाना। अठारहवीं शताब्दी के फ़्रांसीसी भौतिकवादियों की और हीगल तक की यह धारणा थी कि संपूर्ण प्रकृति एक सीमित वृत्त में घूमती है और सदा के लिए अपरिवर्तनशील है; जैसा न्यूटन ने कहा था, उसके नक्षत्र, ग्रह, उपग्रह आदि नित्य हैं; और जैसा लिन्नीयस ने कहा था, सभी कार्बनीय जातियां नित्य और अपरिवर्तनशील हैं। आधुनिक भौतिकवाद ने प्रकृति-विज्ञान के हाल के अनुसंधानों को ग्रहण किया है, जिनके अनुसार काल के प्रवाह में प्रकृति का भी एक इतिहास है, वह भी काल के अधीन है, और आकाश के नक्षत्र-ग्रह-उपग्रह, उन कार्बनीय जातियों की तरह ही, जो अनुकूल परिस्थितियों में उनमें वास करते हैं, उत्पन्न होते हैं और नष्ट होते हैं। और अगर अभी भी यह कहना होगा कि सम्पूर्ण प्रकृति निरंतर पुनरावर्तित होनेवाले वृत्तों में घूमती है, तो साथ ही यह भी मानना होगा कि यह वृत्त निरंतर वृहत्तर होते जाते हैं। दोनों पहलू से आधुनिक

भौतिकवाद मूलतः द्वंद्वात्मक है, और अब उसे ऐसे दर्शन की आवश्यकता न रह गयी, जो शेष सभी विज्ञानों पर शासन करने का दम भरे। जैसे ही प्रत्येक विज्ञान, वस्तुओं की विस्तृत समष्टि में, और उनके ज्ञान की समष्टि में, अपना स्थान स्पष्ट कर लेता है, वैसे ही इस समष्टि से संबंध रखनेवाले एक विशेष विज्ञान की आवश्यकता नहीं रह जाती और वह बेकार हो जाता है। पुराने दर्शन का अगर कोई भाग बचा रहता है, तो वह है विचार तथा उसके नियमों का विज्ञान—तर्क-शास्त्र और द्वंद्ववाद। बाक़ी सब कुछ प्रकृति तथा इतिहास के वस्तु-विज्ञान का अंग बन जाता है।

यद्यपि प्रकृति-संबंधी धारणा में क्रांति उसी हद तक हो सकती थी, जिस हद तक उसके लिए अनुसंधान द्वारा निश्चित सामग्री उपलब्ध हुई हो, बहुत पहले ही कुछ ऐसी ऐतिहासिक घटनायें हो चुकी थीं, जिनके कारण इतिहास की धारणा में एक निर्णयात्मक परिवर्तन संभव हुआ। १८३१ में लियों नाम के नगर में मजदूरों का पहला विद्रोह हुआ, १८३८ और १८४२ के बीच इंगलैंड का चार्टिस्ट आंदोलन, जो पहला राष्ट्रव्यापी मज़दूर-आंदोलन था, अपने शिखर पर पहुंच गया। सर्वहारा वर्ग और पूंजीवादी वर्ग का वर्ग-संघर्ष यूरोप के सबसे उन्नत देशों के इतिहास में सामने आया, और उस हद तक सामने आया, जिस हद तक उनमें एक ओर आधुनिक उद्योग का और दूसरी ओर पूंजीवादी वर्ग के नये राजनीतिक प्रभुत्व का विकास हुआ था। ज़िंदगी की सच्चाई ने अधिकाधिक शक्ति के साथ पूंजीवादी अर्थशास्त्र के उपदेशों को झूठा ठहराया, जिनके अनुसार पूंजी और श्रम के हित एक हैं, और जिनके अनुसार अनियंत्रित प्रतियोगिता का फल होगा विश्वव्यापी शांति और समृद्धि। इन नये तथ्यों की अब और उपेक्षा नहीं की जा सकती थी, और जो फ़्रांसीसी और अंगरेज़ी समाजवाद उनकी सैद्धान्तिक पर अपूर्ण

अभिव्यक्ति था, न तो अब उसकी ही उपेक्षा की जा सकती थी। परंतु इतिहास की पुरानी आदर्शवादी धारणा में—और यह धारणा अभी तक निर्मूल न हुई थी—आर्थिक हितों पर आधारित वर्ग-संघर्षों का, या आर्थिक हितों का, कोई स्थान नहीं था, इस धारणा के अनुसार उत्पादन, तथा सभी आर्थिक संबंध 'सभ्यता के इतिहास' के आनुषंगिक और अप्रधान तत्त्व हैं।

इन नये तथ्यों के कारण समस्त विगत इतिहास की फिर से परीक्षा करना आवश्यक हो गया। और तब यह देखा गया कि आदिम युगों को छोड़कर, समस्त विगत इतिहास वर्ग-संघर्षों का इतिहास रहा है, और समाज के यह संघर्षरत वर्ग सदा अपने युग की उत्पादन तथा विनिमय-प्रणाली से, या एक शब्द में कहें तो, अपने युग की आर्थिक परिस्थितियों से, उत्पन्न हुए हैं; और यह कि समाज का आर्थिक ढांचा ही वस्तुतः वह आधार है, जिसके ऊपर किसी भी ऐतिहासिक युग की क़ानूनी और राजनीतिक संस्थाओं की और धार्मिक, दार्शनिक तथा दूसरे विचारों की पूरी इमारत खड़ी की जाती है, और इस आधार को ग्रहण करके ही हम पूरी इमारत को अंतिम रूप से समझ सकते हैं। हीगल ने इतिहास को अधिभूतवाद से मुक्त किया, उसने उसे द्वंद्ववादी रूप दिया, परंतु इतिहास की उसकी धारणा मूलतः आदर्शवादी थी। आदर्शवाद का अंतिम आश्रय इतिहास की दार्शनिक धारणा थी, पर अब वह आश्रय भी जाता रहा; अब इतिहास की एक भौतिकवादी विवेचना प्रस्तुत की गयी। अभी तक मनुष्य की 'चेतना' को उसकी 'सत्ता' का आधार माना गया था, पर अब मनुष्य की 'सत्ता' को उसकी 'चेतना' का आधार प्रमाणित करने का मार्ग खुल गया।

इस ज़माने से समाजवाद किसी प्रतिभासंपन्न मस्तिष्क की आकस्मिक खोज का फल न रह गया। अब वह ऐतिहासिक रूप से विकसित दो

वर्गों, सर्वहारा और पूंजीवादी वर्गों, के संघर्ष का आवश्यक परिणाम समझा जाने लगा। अब उसका उद्देश्य एक यथासंभव संपूर्ण और दोषहीन समाज-व्यवस्था की कल्पना करना न रह गया। जिस ऐतिहासिक-आर्थिक घटनाक्रम से इन वर्गों और उनके विरोध का आवश्यक रूप से जन्म हुआ है, उसकी परीक्षा करना और इस प्रकार से उत्पन्न आर्थिक परिस्थितियों के अंदर से उन साधनों को ढूंढ़ निकालना, जिनसे इस संघर्ष का अंत किया जा सकता है—यह हुआ समाजवाद का नया उद्देश्य। परंतु इस भौतिकवादी धारणा से, पहले के दिनों के समाजवाद का कोई मेल न था, उसी प्रकार जैसे फ़्रांसीसी भौतिकवादियों की प्रकृति-संबंधी धारणा का द्वंद्ववाद तथा आधुनिक प्रकृति-विज्ञान के साथ कोई सामंजस्य न था। पहले के समाजवादियों ने निस्संदेह अपने काल की पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली और उसके दुष्परिणामों की आलोचना की थी। परंतु वह उनके कारणों का निर्देश न कर सके, और इसलिए वे उनपर क़ाबू न पा सके। वे उन्हें बुरा समझकर त्याज्य ही ठहरा सकते थे। पुराने समाजवादी पूंजीवाद के अन्तर्गत अनिवार्य, मज़दूर-वर्ग के शोषण की जितनी ही तीव्र निंदा करते थे, उतना ही वह यह समझाने में, स्पष्ट रूप से यह दिखलाने में असमर्थ रहते थे कि यह शोषण किस बात में है और कैसे उत्पन्न होता है। इसके लिए यह आवश्यक था कि (१) पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली के ऐतिहासिक संबंधों का निर्देश किया जाये, और यह दिखाया जाये कि एक विशेष ऐतिहासिक युग में उसका उत्पन्न होना अनिवार्य था, और इसीलिए उसका पतन भी अवश्यंभावी है; और (२) पूंजीवाद के मौलिक स्वरूप को, जो अभी भी एक रहस्य बना हुआ था, प्रकट किया जाये। **अतिरिक्त मूल्य** की खोज से यह कमी भी पूरी हो गयी। यह दिखाया गया कि पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली और उसके अन्तर्गत होनेवाले मज़दूर के शोषण का आधार यह है कि मज़दूर

की मुफ़्त की मेहनत से जिस मूल्य की सृष्टि होती है, मालिक उसे हड़प लेता है। और अगर पूंजीपति अपने मज़दूर की श्रम-शक्ति को, बाज़ार में बिकनेवाले माल के रूप में पूरा दाम देकर ख़रीदता है, तो भी वह उससे, जितना वह उसपर ख़र्च करता है, उससे अधिक मूल्य निकाल लेता है और अन्ततः इस अतिरिक्त मूल्य से ही मूल्यों के वे परिमाण बनते हैं, जिनसे धनी वर्गों के हाथ में एक निरंतर बढ़ती हुई पूंजी की राशि एकत्र होती है। पूंजीवादी उत्पादन, और पूंजी के उत्पादन का स्रोत क्या है, यह स्पष्ट हो गया।

इतिहास की भौतिकवादी धारणा, और अतिरिक्त मूल्य के द्वारा पूंजीवादी उत्पादन के रहस्य का उद्घाटन —इन दो महान् आविष्कारों के लिए हम मार्क्स के आभारी हैं। इन आविष्कारों के फलस्वरूप समाजवाद एक विज्ञान बन गया। अब इसके बाद जो काम था, वह यह कि उसकी विस्तृत व्याख्या की जाये, और उसके संबंधों को निश्चित किया जाये।

३

इतिहास की भौतिकवादी धारणा का आरंभ इस स्थापना से होता है कि मानव-जीवन के पोषण के लिए आवश्यक साधनों का उत्पादन, और उत्पादन के बाद, उत्पादित वस्तुओं का विनिमय प्रत्येक समाज-व्यवस्था का आधार है; इतिहास में जितनी समाज-व्यवस्थायें हुई हैं, उनमें जिस प्रकार धन का वितरण हुआ है, और समाज का वर्गों अथवा श्रेणियों में बंटवारा हुआ है, वह इस बात पर निर्भर रहा है कि उस समाज में क्या उत्पादन हुआ है, और कैसे हुआ है, और फिर उत्पत्ति का विनिमय कैसे हुआ है। इस दृष्टिकोण के अनुसार सभी सामाजिक परिवर्तनों और राजनीतिक क्रांतियों के अन्तिम कारण मनुष्य के मस्तिष्क

में नहीं हैं और न शाश्वत सत्य तथा न्याय के विषय में उसकी गहनतर अन्तर्दृष्टि में ही, वे उत्पादन तथा विनिमय-प्रणाली में होनेवाले परिवर्तनों में निहित हैं। उनका पता लगाना है, तो वे हमें प्रत्येक युग के दर्शन में नहीं, अर्थ-व्यवस्था में मिलेंगे। अगर लोग अब यह अधिकाधिक अनुभव करने लगे हैं कि वर्तमान समाज-व्यवस्था अविवेकपूर्ण और अन्यायपूर्ण है, और आज के युग में "विवेक अविवेक में बदल गया है, और न्याय अन्याय में,"* तो यह केवल इस बात का प्रमाण है कि उत्पादन तथा विनिमय-प्रणाली में चुपचाप ऐसे परिवर्तन हुए हैं, जिनके साथ पुरानी आर्थिक अवस्थाओं पर आधारित समाज-व्यवस्था का मेल नहीं रहा है। इससे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि जो असंगतियां प्रकाश में आयी हैं, उन्हें दूर करने के साधन भी, न्यूनाधिक विकसित रूप में, इसी परिवर्तित उत्पादन-प्रणाली में होंगे। इन साधनों को मौलिक सिद्धान्तों के निष्कर्ष के रूप में दिमाग़ से नहीं निकाला जा सकता, बल्कि उन्हें उत्पादन की वर्तमान व्यवस्था के ठोस तथ्यों में ही पाया जा सकता है।

तब फिर इस संबंध में आधुनिक समाजवाद की स्थिति क्या है?

आज के शासक वर्ग ने, पूंजीवादी वर्ग ने ही समाज का मौजूदा ढांचा तैयार किया है, अब इस बात को प्रायः सभी मानने लगे हैं। पूंजीवादी वर्ग ने जिस विशिष्ट उत्पादन-प्रणाली की स्थापना की है, और जो मार्क्स के समय से पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली के नाम से जानी जाती है, वह सामंती व्यवस्था से मेल न खाती थी। इस व्यवस्था के अन्तर्गत व्यक्तियों, पूरी सामाजिक श्रेणियों तथा स्थानीय निगमों को दिये जानेवाले जिन विशेषाधिकारों, और ऊंच-नीच के जन्मजात संबंधों से सामंती समाज का ढांचा बनता था, उनसे पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली

---

*गेटे की ट्रेजडी, 'फ़ाउस्त' में मेफ़ीस्टोफ़ेल्स का कथन।—सम्पादक

का कोई सामंजस्य न था। इसलिए पूंजीवादी वर्ग ने सामंती व्यवस्था को ढहा दिया और उसके खंडहरों पर पूंजीवादी समाज-व्यवस्था का निर्माण किया; उसने एक ऐसा राज्य स्थापित किया जिसमें मुक्त, अबाध प्रतियोगिता थी, व्यक्तिगत स्वतंत्रता थी, क़ानून की निगाह में माल के मालिकों की समानता और पूंजीवाद की बाक़ी सभी नेमतें थीं। और अब से पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली स्वतंत्र रूप से विकसित हो सकती थी। जब से भाप से, मशीनों से और मशीनों को बनानेवाली मशीनों से पुराने कारखाने आधुनिक उद्योग-धंधों में बदले, पूंजीवादी वर्ग के निर्देश में, उत्पादन-शक्तियों ने इस मात्रा में और इतनी तेज़ी के साथ विकास किया, कि ऐसा कभी देखा-सुना न गया था। परन्तु अपने समय जैसे पुराने कारख़ानों की, और उनके प्रभाव से अपेक्षाकृत अधिक विकसित दस्तकारी की, शिल्प-संघों की सामंती बाधाओं से टक्कर हुई थी, उसी प्रकार आज आधुनिक उद्योग का इतना अधिक विकास हो चुका है कि पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली उसे जिन सीमाओं के अंदर बांधे हुए है, उनसे वह टकरा रहा है। नयी उत्पादन-शक्तियां अभी से ही, उनका उपयोग करनेवाली पूंजीवादी प्रणाली से अधिक विकसित हो चुकी हैं। और उत्पादन-शक्तियों तथा उत्पादन-प्रणाली का यह संघर्ष आदिम पाप और ईश्वरीय न्याय के संघर्ष की तरह, मनुष्य के मस्तिष्क में घटित होनेवाला संघर्ष नहीं है। यह संघर्ष भौतिक है, उसका एक वस्तुगत अस्तित्व है, वह हमारी इच्छाओं से स्वतंत्र है, सच पूछिये तो वह उन लोगों की इच्छाओं और क्रियाओं से भी स्वतंत्र है, जिन्होंने यह संघर्ष छेड़ा है। आधुनिक समाजवाद इस वस्तुगत संघर्ष का विचारगत प्रतिबिंब है। यह विचारगत प्रतिबिंब सबसे पहले उस वर्ग के मानस पर अंकित होता है, जो इस संघर्ष को प्रत्यक्ष रूप से झेल रहा है। वह वर्ग है मज़दूर-वर्ग।

तो फिर इस संघर्ष का स्वरूप क्या है?

पूंजीवादी उत्पादन से पहले, अर्थात् मध्ययुग में, सब जगह छोटे पैमाने पर उद्योग की व्यवस्था प्रचलित थी–गांव में छोटे किसानों की, स्वतंत्र अथवा अर्द्धदास किसानों की खेती, शहरों में शिल्प-संघों के अन्तर्गत संगठित दस्तकारी। इस व्यवस्था का आधार था उत्पादन के साधनों पर श्रमिकों का निजी अधिकार। भूमि, घरेलू कारखाने, खेती और दस्तकारी के औज़ार –यह सब श्रम के साधन थे, और यह साधन ऐसे थे कि अलग-अलग व्यक्ति ही उनका अलग-अलग इस्तेमाल कर सकते थे, और वे इस व्यक्तिगत उपयोग के अनुरूप ही बनाये गये थे। इस कारण वे अनिवार्य रूप से साधारण, सीमित और लघु थे। परंतु इसी कारण इन साधनों पर साधारणतः उत्पादकों का ही अधिकार होता था। इन सीमित और बिखरे हुए उत्पादन के साधनों को एकत्र और केंद्रीभूत करना, उन्हें विकसित करना, और उत्पादन के आजकल के शक्तिशाली यंत्रों में बदल देना–पूंजीवादी उत्पादन की, और उसके समर्थक–पूंजीवादी वर्ग–की ठीक यही ऐतिहासिक भूमिका थी ।'पूंजी' के चौथे खंड में मार्क्स ने तफ़सील से समझाया है कि किस तरह पंद्रहवीं शताब्दी से यह ऐतिहासिक परिवर्तन, विकास की तीन अवस्थाओं से होकर पूरा हुआ है। यह अवस्थायें हैं–साधारण सहयोग, कारखाना और आधुनिक उद्योग। परंतु वहीं पर मार्क्स ने यह भी दिखाया है कि पूंजीवादी वर्ग उत्पादन के इन तुच्छ साधनों को विराट उत्पादन-शक्तियों में तभी बदल सकता था, जब वह, इसके साथ ही, उत्पादन के व्यक्तिगत साधनों को सामाजिक साधनों में बदल डाले, जिनका उपयोग जनसमूह द्वारा ही हो सकता था। चर्खे, कर्घे और लोहार के हथौड़े का स्थान कातने और बुननेवाली मशीनों और भाप से चलनेवाले हथौड़े ने ले लिया, जहां दस्तकार का अपना घरेलू कारख़ाना था, वहां सैकड़ों और हजारों मजदूरों के सहयोग से चलनेवाली मिल खुल गयी। इसी

प्रकार उत्पादन भी व्यक्तिगत कार्यों के एक क्रम के स्थान पर सामाजिक कार्यों का एक क्रम वन गया, और पैदावार का भी स्वरूप व्यक्तिगत से वदलकर सामाजिक हो गया। मिलों से जो सूत, कपड़ा या धातु का सामान वनकर निकलता था, उसे, तैयार होने से पहले, एक के बाद एक, वहुत-से मज़दूरों के हाथ से गुज़रना पड़ता था, इसलिए वह उनका सम्मिलित उत्पादन था। कोई भी आदमी उसके वारे में यह न कह सकता था, "मैंने इसे वनाया है, यह मेरे श्रम का फल है।"

जहां किसी समाज में उत्पादन का मौलिक रूप वह स्वत:स्फूर्त श्रम-विभाजन होता है, जो किसी पूर्वकल्पित योजना के अनुसार नहीं, वल्कि आपसे आप धीरे-धीरे जड़ जमा लेता है, वहां पैदावार माल का रूप लेती है, जिसके परस्पर विनिमय, क्रय और विक्रय से ही, व्यक्तिगत रूप से उत्पादन करनेवाले लोग अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं। मध्ययुग में ऐसा ही हुआ करता था। उदाहरण के तौर पर किसान खेती की उपज को दस्तकार के हाथ वेंचता था और उससे दस्तकारी की चीज़ें खरीदता था। व्यक्तिगत रूप से उत्पादन करनेवाले, माल का उत्पादन करनेवाले लोगों के इस समाज में, यह नयी उत्पादन प्रणाली वलात् प्रवेश करती है। जो श्रम-विभाजन, आपसे आप, और **बिना किसी निश्चित योजना के**, विकसित हुआ था, और पूरे समाज पर छा गया था, उसके वीच, अव मिल के अंदर एक **निश्चित योजनानुसार** संगठित श्रम-विभाजन उत्पन्न हुआ। **व्यक्तिगत** उत्पादन के साथ-साथ **सामाजिक** उत्पादन भी चल पड़ा। दोनों का माल एक ही वाज़ार में, और इसलिए लगभग एक ही क़ीमत पर वेंचा जाता था। परंतु एक निश्चित योजना के अनुसार संगठन स्वत:स्फूर्त श्रम-विभाजन से अधिक शक्तिशाली था। मिलों में एक जन-समुदाय की सम्मिलित सामाजिक शक्ति द्वारा उत्पादन होता था, इसलिए उनमें तैयार होनेवाला माल

व्यक्तिगत ढंग से उत्पादन करनेवाले छोटे उत्पादकों के माल से कहीं ज्यादा सस्ता होता था। इसका फल यह हुआ कि एक विभाग के बाद दूसरे विभाग में, व्यक्तिगत उत्पादन को सामाजिक उत्पादन के आगे झुकना पड़ा। सामाजिक उत्पादन ने उत्पादन की पुरानी सारी प्रणालियों में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिया। परंतु इसके साथ ही, उसके क्रांतिकारी स्वरूप को इतना कम समझा गया कि उल्टे उसका उपयोग माल-उत्पादन की वृद्धि तथा विकास के साधन के रूप में किया गया। सामाजिक उत्पादन का जब आरंभ हुआ, उसने व्यापारिक पूंजी, दस्तकारी, मजूरी-मेहनत आदि माल के उत्पादन और विनिमय के कुछ उपादानों को पहले से मौजूद पाया, और उनका खुलकर इस्तेमाल किया। इस प्रकार, माल-उत्पादन की एक नयी प्रणाली के रूप में ही सामाजिक उत्पादन का जन्म हुआ, इसलिए स्वभावतः उसके अंतर्गत उत्पत्ति पर व्यक्तिगत अधिकार की पुरानी व्यवस्था अविकल चलती रही, और उसे सामाजिक उत्पादन की उत्पत्ति पर भी लागू किया गया।

मध्ययुग में माल-उत्पादन के विकास की जो अवस्था थी, उसमें इस बात का प्रश्न नहीं उठ सकता था कि श्रम की पैदावार का मालिक कौन है। आम तौर से होता यह था कि व्यक्तिगत रूप से उत्पादन करनेवाला आदमी अपने कच्चे माल से, जिसे वह अवसर ख़ुद ही प्राप्त कर लेता था, अपने औज़ारों से और अपने या अपने परिवार की मेहनत से उसे पैदा करता था। इसलिए उसके लिए इस नयी उत्पत्ति को अपने अधिकार में करने की ज़रूरत न थी। क्योंकि वह कुदरती तौर पर उसका सोलहों आना मालिक था। उत्पत्ति के ऊपर उसके अधिकार का आधार उसका अपना श्रम था। जहां बाहरी सहायता ली भी जाती थी, वह साधारणतः गौण होती, और उसके बदले में मज़दूरी के अलावा और भी कुछ दिया जाता था। शिल्प-संघों के मज़दूर-कारीगर और

शागिर्द उतना भोजन-वस्त्र तथा मज़दूरी के लिए काम नहीं करते थे, जितना शिक्षा प्राप्त करने के उद्देश्य से, ताकि वे स्वयं भी दस्तकार-मालिक बन सकें।

इसके बाद बड़ी बड़ी कर्मशालाओं और कल-कारखानों में उत्पादन के साधनों और उत्पादकों को एकत्र और केंद्रीभूत किया गया और वे सचमुच उत्पादन के सामाजिक साधनों में, और सामाजिक उत्पादकों में बदल दिये गये। परंतु इस परिवर्तन के बाद भी सामाजिक उत्पादकों, उत्पादन के साधनों तथा उनकी उत्पत्ति के प्रति दृष्टिकोण में अंतर नहीं आया, अर्थात् पहले की ही तरह वह उत्पादन के व्यक्तिगत साधन और व्यक्तिगत उत्पत्ति समझी जाती रही। अभी तक श्रम की उत्पत्ति पर स्वयं श्रम के साधनों के स्वामी का अधिकार होता था, क्योंकि सामान्यतः यह उसकी अपनी उत्पत्ति होती थी, और दूसरों से सहायता अपवादस्वरूप ही ली जाती थी। श्रम के साधनों का स्वामी श्रम की उत्पत्ति को अभी भी सदा अपने अधिकार में ले लेता, यद्यपि अब यह उसकी अपनी उत्पत्ति न रही, बल्कि दूसरों के श्रम की ही उत्पत्ति हो गयी थी। इस प्रकार अब जो उत्पत्ति सामाजिक उत्पादन का फल थी, उसपर उन लोगों का अधिकार न रहा, जिन्होंने वस्तुतः उत्पादन के साधनों को सक्रिय किया था, उनका उपयोग किया था और जिन्होंने वस्तुतः माल का उत्पादन किया था। अब उनपर पूंजीपतियों का अधिकार हो गया। उत्पादन के साधनों का, और स्वयं उत्पादन का स्वरूप बुनियादी तौर पर सामाजिक हो गया था। परंतु उन्हें उत्पत्ति पर अधिकार की एक ऐसी व्यवस्था के अधीन किया गया, जिसका आधार अलग-अलग व्यक्तियों द्वारा व्यक्तिगत उत्पादन होता है, और इसलिए, जिसके अन्तर्गत हर आदमी अपनी पैदावार का मालिक है, और उसे बाज़ार में ले आता है। जिन परिस्थितियों पर यह व्यवस्था टिकी है, सामाजिक उत्पादन-

:

प्रणाली उन्हें नष्ट कर देती है, लेकिन फिर भी उसे इस व्यवस्था के अधीन किया जाता है।*

इसी असंगति ने नयी उत्पादन-प्रणाली को उसका पूंजीवादी रूप दिया था, और उसके भीतर ही आज के सारे सामाजिक विरोधों का बीज है। इस नयी उत्पादन-प्रणाली ने उत्पादन के सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में और कल-कारखानेवाले सभी देशों में जितना अधिक प्रभुत्व स्थापित किया, जितना ही उसने व्यक्तिगत उत्पादन को तुच्छ और महत्वहीन बना दिया—इतना तुच्छ कि उसके कुछ अवशेष ही रह गये—सामाजिक उत्पादन और पूंजीवादी अधिकार-व्यवस्था की असंगति उतने ही स्पष्ट रूप में प्रकाश में आती गयी।

जैसा हमने कहा है, पूंजीपतियों ने शुरू में ही श्रम के अन्य रूपों के साथ, मजूरी-श्रम को भी बाज़ार में पहले से ही तैयार पाया। परंतु यह श्रम स्थायी नहीं, अपवाद था, परिवर्तनकालिक और अन्य प्रकार के

---

* इस संबंध में यह कहने की खास ज़रूरत नहीं है कि इस अधिकार-व्यवस्था का बाह्य रूप वही होने पर भी, उपरोक्त परिवर्तनों के कारण, उसकी प्रकृति उतनी ही बदल जाती है, जितना उत्पादन। अपनी पैदावार का मालिक होने और दूसरे की पैदावार का मालिक बन जाने में बहुत फ़र्क़ है। यहां पर क्षण भर के लिए रुककर हम यह भी समझ लें कि मजूरी मेहनत की व्यवस्था, जिसके भीतर पूरी पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली बीज रूप में निहित है, अत्यन्त प्राचीन है, जहां-तहां, बिखरे हुए रूप में, दास-श्रम के साथ ही सदियों तक उसका अस्तित्व भी रहा है। परंतु यह बीज बाक़ायदा पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली में तभी विकसित हो सकता था, जब उसके लिए आवश्यक ऐतिहासिक पूर्वावस्थायें उत्पन्न हो जायें। (एंगेल्स का नोट)

श्रम का सहायक या पूरक था। समय-समय पर खेतिहर मज़दूर दैनिक मज़दूरी पर काम ज़रूर करता था, लेकिन उसकी चंद बीघे अपनी ज़मीन भी होती थी, जिससे बहरसूरत वह गुज़ारा कर ही सकता था। शिल्प-संघों का संघटन ऐसा था कि आज का मज़दूर-कारीगर कल का मालिक होता था। परंतु जब उत्पादन के साधनों का स्वरूप सामाजिक हो गया, और वे पूंजीपतियों के हाथ में एकत्र हो गये, तब यह सारी परिस्थिति बदल गयी। व्यक्तिगत उत्पादक के उत्पादन के साधन और उसकी उत्पत्ति अधिकाधिक व्यर्थ होती गयी, और उसके लिए सिवा इसके कोई चारा न रहा कि वह पूंजीपति का मज़दूर बन जाये। अभी तक मजूरी-श्रम अपवाद था, गौण और सहायक था, अब वह समस्त उत्पादन का नियम और आधार बन गया; अभी तक वह अन्य प्रकार के श्रम का पूरक था, लेकिन अब वही मज़दूर का एकमात्र धंधा रह गया। दो-चार दिन मजूरी पर काम करनेवाला मज़दूर अब जीवन भर के लिए मज़दूर बन गया। इसी ज़माने में सामंती व्यवस्था टूटी, सामंती प्रभुओं के नौकर-चाकर काम से निकाल दिये गये, किसान अपने खेतों से बेदखल कर दिये गये, और इन सब कारणों से स्थायी रूप से मजूरी पर काम करनेवाले मज़दूरों की संख्या और भी बहुत बढ़ गयी। पूंजीपतियों के हाथों में एकत्र उत्पादन के साधनों से, उत्पादक, जिनके पास अपनी श्रम-शक्ति के अतिरिक्त और कुछ न था, संपूर्ण रूप से विच्छिन्न हो गये। **सामाजिक उत्पादन तथा पूंजीवादी अधिकार-व्यवस्था की असंगति सर्वहारा वर्ग और पूंजीवादी वर्ग के विरोध के रूप में प्रकट हुई।**

हम देख चुके हैं कि उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली व्यक्तिगत रूप से उत्पादन करनेवाले माल-उत्पादकों के समाज में बलपूर्वक प्रवेश करती है। यह उत्पादक अपनी उत्पत्ति का विनिमय करते हैं, और इस विनिमय के द्वारा ही उनमें सामाजिक संबंध स्थापित होता है। परंतु माल-

उत्पादन पर आधारित प्रत्येक समाज की यह विशेषता होती है कि उत्पादकों का अपने सामाजिक अंत:सम्बन्धों पर कोई नियंत्रण नहीं रह जाता। हर आदमी, उत्पादन के जो भी साधन उसके पास हों, उनकी सहायता से अपने लिए और उतने ही विनिमय के लिए उत्पादन करता है, जितना उसकी शेष आवश्यकता की पूर्ति के लिए आवश्यक हो। कोई नहीं जानता कि जो वस्तु उसने तैयार की है, वह कितने परिमाण में बाज़ार में आ रही है, या कितने परिमाण में उसकी आवश्यकता होगी। कोई नहीं जानता कि उसके अपने माल की दरअसल मांग होगी कि नहीं, वह बिकेगा या नहीं, या बिकने पर उसकी लागत भी निकल सकेगी कि नहीं। सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में अराजकता फैली हुई होती है।

परंतु हर उत्पादन-प्रणाली की तरह माल-उत्पादन के भी अपने विशेष नियम हैं, जो उसमें अंतर्निहित हैं और उससे अलग नहीं किये जा सकते, और यह नियम अराजकता के बावजूद, और इसी अराजकता में, और अराजकता के द्वारा, प्रकट होते हैं। यह नियम समाज के पारस्परिक अंत:संबंधों के एकमात्र स्थायी रूप, विनिमय, में प्रकट होते हैं, और इस क्षेत्र में प्रतियोगिता के अनिवार्य नियमों के रूप में, व्यक्तिगत उत्पादकों को प्रभावित करते हैं। पहले उत्पादक स्वयं इन नियमों से अपरिचित रहते हैं, धीरे-धीरे अनुभव के बाद ही वे जाने जाते हैं। इसलिए वे उत्पादकों से स्वतंत्र, और उनके विरोध में, उनकी विशिष्ट उत्पादन-प्रणाली के कठोर, प्राकृतिक नियमों के रूप में प्रकट होते हैं। उत्पत्ति उत्पादक को शासित करती है।

मध्ययुगीन समाज में, विशेषकर उसकी आरंभिक शताब्दियों में, उत्पादन मूलत: व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए होता था। मुख्य रूप से उससे उत्पादक और उसके परिवार की आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी। जहां व्यक्तिगत अधीनता के संबंध थे, जैसे गांवों में, वहां वह सामंती अधिपति की आवश्यकताओं की पूर्ति में भी सहायक होता

था। इसलिए इस सबमें विनिमय का कोई स्थान न था, फलस्वरूप उत्पत्ति माल का रूप धारण नहीं करती थी। एक किसान परिवार को जिन चीज़ों की ज़रूरत होती थी, कपड़े, कुर्सी-मेज़, और साथ ही जीविका के साधन, प्रायः वह सब वह खुद तैयार कर लेता था। हां, उसकी अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए, और सामंती अधिपति को जिंस में अदायगी के लिए, जितना यथेष्ट था, जब वह उससे अधिक उत्पादन करने लगा, तभी उसने माल का भी उत्पादन किया। उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद, अतिरिक्त वस्तु जब सामाजिक विनिमय के लिए, विक्रय के लिए, बाज़ार में आयी, तब उसने माल का रूप धारण कर लिया।

यह सच है कि शहरों के दस्तकारों को शुरू से ही विनिमय के लिए उत्पादन करना पड़ा। परंतु वे भी अपनी निजी आवश्यकताओं का सबसे अधिक भाग स्वयं पूरा कर लेते थे। उनके पास बग़ीचे और छोटे मोटे खेत थे। वे अपने मवेशियों को पंचायती जंगलों में छोड़ देते, जिनसे उन्हें लकड़ी और इंधन भी मिल जाता था। उनकी औरतें सन, ऊन इत्यादि कातती, बुनती थीं। विनिमय के लिए उत्पादन, माल का उत्पादन, अभी अपनी शैशव-अवस्था में था। इसलिए विनिमय सीमित था, बाज़ार छोटे थे, उत्पादन की प्रणाली स्थिर थी। बाहरी दुनिया से अलग, अपने में पूर्ण और स्थानीय पैमाने पर एकजुट; गांव में मार्क* और नगरों में शिल्प-संघ – यह था उस काल का समाज।

परंतु माल-उत्पादन के विस्तार, और विशेष रूप से पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली के प्रचलन के साथ, माल-उत्पादन के नियम, जो अभी तक अप्रकट थे, अधिक प्रत्यक्ष रूप से और अधिक शक्ति के साथ काम करने लगे। पुराने बंधन ढीले पड़े और पुराना बिलगाव तोड़ दिया गया, और उत्पादक

---

*एंगेल्स यहां अपनी पुस्तक 'मार्क' की ओर संकेत करते हैं, देखिये पृष्ठ ८। – संपादक

अधिकाधिक स्वतंत्र और एक-दूसरे से विच्छिन्न, माल के उत्पादकों में बदलते गये। यह स्पष्ट हो गया कि पूरे समाज का उत्पादन एक योजना द्वारा अनुशासित नहीं है, उसमें आकस्मिकता और अराजकता छायी हुई है, और यह अराजकता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही थी। लेकिन जिस प्रधान साधन की सहायता से पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली ने इस अराजकता को तीव्र किया, वह अराजकता का ठीक उलटा था। यह प्रत्येक उत्पादन-संस्था में, उत्पादन का एक सामाजिक आधार पर बढ़ता हुआ संगठन था। इस तरह पुरानी, शांतिपूर्ण, स्थिर अवस्था का अंत कर दिया गया। जहां भी उद्योग की किसी शाखा में उत्पादन के इस संगठन का प्रवेश हुआ, उसने अपने निकट उत्पादन की अन्य किसी प्रणाली को ठहरने नहीं दिया। श्रम का क्षेत्र रणक्षेत्र बन गया। महान् भौगोलिक खोजों ने,* और फलस्वरूप नये-नये उपनिवेशों की स्थापना ने बाज़ारों को कई गुना बढ़ा दिया, और जिस रफ़्तार से दस्तकारी कारखाने के उत्पादन में बदल रही थी, उसे बहुत तेज़ कर दिया। भिन्न-भिन्न स्थानों के व्यक्तिगत उत्पादकों में ही युद्ध नहीं छिड़ा, इन स्थानीय संघर्षों ने अपनी दफ़ा राष्ट्रीय संघर्षों को, सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दियों के व्यापारिक युद्धों** को जन्म दिया।

---

*इनमें से अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं: १४९२ में क्रिस्तोफ़र कोलंबस द्वारा अमरीका की और १४९८ में पुर्तगीज वास्को द गामा द्वारा भारत के समुद्री मार्ग की खोज। — संपादक

** १७ वीं और १८ वीं शताब्दियों में भारत और अमरीका में व्यापारिक प्रभुत्व के लिए और उपनिवेशों के रूप में इन दो देशों को अपने स्वामित्व में रखने के लिए पुर्तगाल, स्पेन, हालैंड, फ़्रांस और ब्रिटेन के बीच लड़ाइयां हुईं। लड़ाइयों में ब्रिटन की जीत हुई और १८ वीं शताब्दी के अंत में सारे संसार भर का व्यापार उसके हाथों में आ गया। — संपादक

अंत में आधुनिक उद्योग ने और एक विश्व-बाज़ार की स्थापना ने, इस संघर्ष को विश्व-व्यापी बना दिया और साथ ही उसे इतना उग्र कर दिया कि, ऐसा पहले कभी देखा-सुना नहीं गया था। भिन्न-भिन्न पूंजीपतियों का, और साथ ही, समूचे उद्योगों और देशों का जीना-मरना इस बात पर निर्भर हो गया कि उत्पादन की प्राकृतिक अथवा कृत्रिम अवस्थाओं के संबंध में किसे अधिक सुविधा प्राप्त है। इस संघर्ष में जो गिरा, वह गया, उसे बेरहमी के साथ रास्ते से हटा दिया जाता था। अपने अस्तित्व के लिए व्यक्ति का यही वह संघर्ष था, जिसकी कल्पना डारविन ने की थी। अंतर यह है कि यह संघर्ष एक और भी उग्र रूप में, प्रकृति के क्षेत्र से निकलकर समाज के क्षेत्र में प्रवेश पाता है। जीवन की वह अवस्थायें, जो पशुओं के लिए स्वाभाविक हैं, मानवीय विकास का अंतिम चरण प्रतीत होती हैं। सामाजिक उत्पादन और पूंजीवादी अधिकार-पद्धति की असंगति अब अलग-अलग कारखानों में उत्पादन के संगठन और पूरे समाज में उत्पादन की अराजकता के विरोध के रूप में प्रकट होती है।

पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली में आरंभ से ही जो विरोध अंतर्निहित है, यह प्रणाली उसके इन्हीं दो रूपों के वृत्त में घूमती है। जिस 'दूषित वृत्त' का फ़ूरिये ने पहले ही पता लगा लिया था, यह उत्पादन-प्रणाली उसके बाहर निकलने में असमर्थ है। अवश्य ही अपने समय में फ़ूरिये यह नहीं देख सके थे कि यह वृत्त निरंतर संकुचित होता जाता है, उसकी गति अधिकाधिक चक्करदार होती जाती है और ग्रहों की गति ही की तरह, केंद्र से टकराकर उसका अंत हो जाना निश्चित है। पूरे समाज के उत्पादन में फैली अराजकता की अनिवार्य शक्ति ही ज्यादातर आदमियों को दिन-ब-दिन ज्यादा मुकम्मल तौर पर सर्वहारा बना रही है, और यह सर्वहारा जन ही अन्ततः उत्पादन की इस अराजकता को मिटा देंगे। सामाजिक उत्पादन में फैली अराजकता की अनिवार्य शक्ति ही आधुनिक उद्योग के

अंतर्गत मशीनों के असीम विकास की संभावनाओं को एक अनुल्लंघनीय नियम का रूप देती है, जिसके अनुसार प्रत्येक औद्योगिक पूंजीपति को अपनी मशीनों को उत्तरोत्तर उन्नत करना है, और नहीं तो वर्बाद हो जाना है।

परंतु मशीनों की यह उन्नति मानव-श्रम को अनावश्यक वनाये जाती रही है। अगर मशीनों के चलने और बढ़ने का मतलव यह है कि मशीन से काम करनेवाले थोड़े से मज़दूर हाथ से काम करनेवाले लाखों मज़दूरों की जगह ले लेते हैं, तो मशीनों के सुधार और उन्नति का मतलव यह है कि मशीन से काम करनेवाले यह मज़दूर स्वयं अधिकाधिक संख्या में विस्थापित हो जाते हैं। और अन्ततः इसका मतलव यह है कि औसत तौर पर पूंजी के लिए जितने मज़दूरों की ज़रूरत है, मजूरी पर काम करने के लिए तैयार मज़दूर उनसे ज्यादा हो जाते हैं, यानी जैसा मैंने १८४५* में कहा था, एक पूरी औद्योगिक कोतल-सेना का निर्माण होता है। जव उद्योग तेज़ी के साथ काम करता होता है, तव तो यह कोतल-सेना काम के लिए उपलब्ध रहती है, लेकिन जव अनिवार्य रूप से मंदी आती है उसे वेकार वना दिया जाता है, और दर-दर भटकने पर मजवूर किया जाता है। पूंजी के साथ अपने अस्तित्व के लिए मज़दूर-वर्ग के संघर्ष में, यह कोतल-सेना उसके पांव की वेड़ी है, मज़दूरी को उस नीची सतह पर, जो पूंजी के हितों के अनुकूल है, क़ायम रखने का नियामक साधन है। इस तरह मार्क्स के शब्दों में, होता यह है कि मशीन मज़दूर-वर्ग के ख़िलाफ़ पूंजी की लड़ाई में सवसे जवर्दस्त हथियार वन जाती है; श्रम के साधन सदा मज़दूर के हाथ से उसकी रोटी छीन लेते हैं, और मज़दूर की उत्पत्ति ही उसकी दासता का एक अस्त्र वन जाती है। इस तरह होता यह है

---

* 'इंगलैंड में मज़दूर-वर्ग की स्थिति' (ज़ोनेंशैन एंड कं०), पृष्ठ ८४। (एंगेल्स का नोट)

कि श्रम के साधनों में वचत, वचत होने के साथ ही, श्रमशक्ति की एक भयंकर बर्वादी बन जाती है, और जिन साधारण परिस्थितियों में मज़दूर काम करते हैं, यह चोरी उन्हीं के आधार पर की जाती है। इस तरह मशीन जो "श्रम-काल को कम करने का सबसे शक्तिशाली साधन है, मज़दूर और उसके परिवार के समय के प्रत्येक क्षण को, पूंजी के मूल्य में वृद्धि के लिए, पूंजीपति के अधीन करने का सबसे सफल साधन बन जाती है।" ('पूंजी', अंगरेज़ी संस्करण, पृ० ४०६।) इस तरह होता यह है कि कुछ लोगों का अत्यधिक परिश्रम दूसरों की बेकारी की पहली शर्त बन जाता है, और आधुनिक उद्योग, जो नये उपभोक्ताओं की खोज में सारी दुनिया की खाक छानता है, अपने देश की जनता के उपभोग को निम्नतम स्तर पर, भुखमरी की हद पर पहुंचा देता है, और इस तरह अपने देश के बाज़ार को ही चौपट कर डालता है। "जिस नियम के अनुसार जनसंख्या के अपेक्षाकृत अतिरिक्त भाग, अथवा औद्योगिक कोतल-सेना में और पूंजी के संचय के विस्तार और शक्ति में, एक ही अनुपात से वृद्धि होती है, वह नियम मज़दूर को पूंजी के साथ इतनी मज़बूती से बांध देता है, जितनी मज़बूती से वलकन ने प्रामीथियस को चट्टान से न बांधा होगा।* इस नियम के अनुसार पूंजी के संचय के साथ दरिद्रता का संचय भी होता है। अतएव एक छोर पर धन का संचय, साथ ही, दूसरे छोर पर अर्थात् उस वर्ग की ओर, जिसकी पैदावार पूंजी का रूप लेती है, दुःख, श्रम की यंत्रणा, दासता, अज्ञान, क्रूरता, तथा मानसिक पतन का संचय भी है।" (मार्क्स, 'पूंजी' (ज़ोनेंशैन एंड कं०)

---

*प्रामीथियस: यूनानी पुराण-कथाओं का एक नायक। यह देवताओं के यहां से अग्नि को चुराकर मनुष्यों के पास लाया था। इसके दंड स्वरूप वलकन देवता ने उसे चट्टान में जकड़ दिया।—संपादक

पृ० ६६१।) उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली से उत्पत्ति के किसी अन्य विभाजन की आशा करना वैसे ही व्यर्थ है, जैसे किसी बैटरी के विद्युत् छोरों से यह आशा करना कि जब तक बैटरी से उनका सम्पर्क बना हुआ है, वह अम्लाक्त जल के परमाणुओं को विलग नहीं करेंगे, और धनछोर पर आक्सीजन तथा ऋणछोर पर हाइड्रोजन उन्मुक्त नहीं करेंगे।

हम देख चुके हैं कि सामाजिक उत्पादन के क्षेत्र में फैली अराजकता के कारण, आधुनिक मशीनों के विकास की निरंतर बढ़ती हुई संभावना एक अनिवार्य नियम में बदल जाती है, जो प्रत्येक औद्योगिक पूंजीपति को इसके लिए विवश करता है कि वह अपनी मशीनों को बराबर सुधारता रहे और उनकी उत्पादक शक्ति को बराबर बढ़ाता रहे। उत्पादन के क्षेत्र का विस्तार करने की संभावना मात्र उसके लिए इसी तरह के एक अनिवार्य नियम में बदल जाती है। आधुनिक उद्योग की प्रचंड प्रसार-शक्ति, जिसके आगे गैसों की प्रसार-शक्ति बच्चों का खेल है, हमें गुण और परिमाण, दोनों में वृद्धि की **अनिवार्य आवश्यकता** प्रतीत होती है। और यह आवश्यकता ऐसी है, कि वह सारी बाधाओं का जैसे उपहास करती है। उपभोग, बिक्री, आधुनिक उद्योग की पैदावर के बाज़ार, यह बाधायें खड़ी करते हैं। परंतु, घनत्व और विस्तार, दोनों में बाज़ारों के बढ़ने की क्षमता मुख्यतया भिन्न नियमों से निश्चित होती है। यह नियम उतनी शक्ति से कार्य नहीं करते, इसलिए बाज़ार का प्रसार उत्पादन के प्रसार के साथ क़दम नहीं मिला पाता। दोनों में टक्कर होना लाज़िमी हो जाता है, पर जब तक इस टक्कर से पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली ही चूर-चूर न हो जाये, उससे कोई वास्तविक समाधान नहीं निकल सकता, इसलिए यह टक्कर समय के एक निश्चित व्यवधान से बार-बार होती रहती है। पूंजीवादी उत्पादन एक नया 'दूषित वृत्त' उत्पन्न कर देता है।

वास्तव में १८२५ से, जब पहली बार आम आर्थिक संकट उत्पन्न हुआ था, हर दसवें वर्ष समस्त औद्योगिक तथा व्यापारिक जगत, तमाम सभ्य जातियों, और उनके अधीन रहनेवाली न्यूनाधिक बर्बर जातियों, का उत्पादन और विनिमय अव्यवस्थित हो जाता है। व्यापार ठप हो जाता है, बाज़ार माल से पट जाता है, पैदावार जमा होने लगती है, और जितना ही उसे बेंचना मुश्किल है, उतने ही उसके ढेर लगते जाते हैं, नक़द पैसा ग़ायब हो जाता है, साख मिट जाती है, मिलें बंद हो जाती हैं, और आम मज़दूर जीविका के साधनों से वंचित हो जाते हैं, क्योंकि उन्होंने जीविका के साधनों का अत्यधिक उत्पादन कर डाला है, दिवाले के बाद दिवाला निकलता है, नीलाम के बाद नीलाम। यह निष्क्रियता सालों तक रहती है, उत्पादन-शक्तियों और उत्पत्ति की बर्बादी होती है, उन्हें बड़े पैमाने पर नष्ट कर दिया जाता है, और यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक कि ढेर का ढेर जमा माल न्यूनाधिक कम मूल्य पर खपा न दिया जाये, जब तक कि उत्पादन और विनिमय में फिर गति न आये। धीरे-धीरे रफ़्तार तेज़ होती है। फिर चाल दुलकी हो जाती है, और उद्योग की यह दुलकी चाल पोइया में और पोइया बेतहाशा दौड़ में, उद्योग, व्यापारिक लेन-देन और सट्टाबाज़ी की एक पूरी घुड़दौड़ में, बदल जाती है, और यह घुड़दौड़ ख़तरनाक छलांगों के बाद वहीं ख़त्म होती है, जहां से वह शुरू हुई थी—संकट के गड्ढे में। और यह क्रम बार-बार दुहराया जाता है। १८२५ से अब तक हम पांच बार इस दौर से गुज़र चुके हैं, और इस समय (१८७७) हम उससे छठीं बार गुज़र रहे हैं। और इन संकटों का स्वरूप इतना स्पष्ट है कि जब फ़ूरिये ने पहले संकट के बारे में कहा कि वह "crise pléthorique" यानी आधिक्य का संकट है, उसने उन सबों के बारे में बिलकुल पते की बात कह दी।

इन संकटों में, सामाजिक उत्पादन और पूंजीवादी अधिकार-पद्धति के विरोध का अंत एक भयानक विस्फोट में होता है। माल का चलन, कुछ समय के लिए रुक जाता है। मुद्रा, जो इस चलन की साधक है, अव वाधक वन जाती है। माल के उत्पादन तथा वितरण के सारे नियम उलट-पुलट हो जाते हैं। यह आर्थिक संघर्ष अपने चरम विन्दु पर पहुंच जाता है। उत्पादन-प्रणाली विनिमय-प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह कर देती है।

मिल के भीतर उत्पादन का सामाजिक संगठन इस हद तक विकसित हो जाता है कि समाज के उत्पादन में फैली अराजकता के साथ और यह अराजकता भी इस संगठन के साथ रहती है और उसके ऊपर हावी रहती है – उसका बिलकुल सामंजस्य नहीं रह जाता। इन संकटों में वहुत-से वड़े, और उनसे भी ज्यादा छोटे पूंजीपतियों के चौपट हो जाने से, पूंजी का जो वहुत तेज़ी से केंद्रीकरण होता है, उससे स्वयं पूंजीपति इस वात को अच्छी तरह समझ जाते हैं। पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली से जो उत्पादक शक्तियां उत्पन्न होती हैं, उनके ज़ोर और दवाव से, इस प्रणाली का पूरा ढांचा टूट जाता है। यह प्रणाली अव और उत्पादन के साधनों के इस पूरे ढेर को पूंजी में परिणत नहीं कर पाती। वे वेकार पड़े रहते हैं, और इसीलिए औद्योगिक कोतल-सेना को भी वेकार ही रहना पड़ता है। उत्पादन के साधन, जीविका के साधन, काम करने के लिए तैयार मज़दूर, उत्पादन के तथा सव की सामान्य समृद्धि के सभी उपकरण और तत्त्व, प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं। परंतु यह "प्रचुरता ही दुःख और अभाव का कारण वन जाती है" (फ़ूरिये) क्योंकि इस प्रचुरता के ही कारण उत्पादन और जीविका के साधन पूंजी का रूप नहीं ले पाते। कारण, पूंजीवादी समाज में, उत्पादन के साधन, जव तक पहले ही पूंजी में, मानवीय श्रम-शक्ति का शोषण करने के साधन में, न वदल दिये जायें, वे कार्य नहीं कर सकते। उत्पादन और जीविका के साधनों को पूंजी में परिणत करने की अनिवार्य आवश्यकता, इन साधनों और

मजदूरों के वीच, पिशाच की तरह खड़ी हो जाती है। यह आवश्यकता ही उत्पादन के भौतिक और मानवीय उत्तोलकों के एकत्र होने में बाधक है, वही उत्पादन के साधनों को क्रियाशील होने से, मजदूरों को काम करने और जिंदा रहने से, रोकती है। इसलिए एक ओर तो यह पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली, इन उत्पादक शक्तियों का और परिचालन करने में असमर्थ होने से, स्वयं दोषी ठहरती है, दूसरी ओर यह उत्पादक शक्तियां स्वयं ज्यादा से ज्यादा तेजी के साथ इस बात के लिए जोर डालती हैं कि वर्तमान असंगतियों को दूर किया जाये, पूंजी के रूप में उनकी स्थिति का अंत किया जाये, और व्यवहार में, सामाजिक उत्पादक शक्तियों के नाते उनका स्वरूप मान लिया जाये।

यह उत्पादक शक्तियां, जैसे-जैसे वे शक्तिशाली होती जाती हैं, पूंजी के रूप में अपनी स्थिति के विरुद्ध विद्रोह करती हैं, वे कठोर से कठोरतर आदेश देती हैं कि उनका सामाजिक स्वरूप स्वीकार कर लिया जाये, और इससे वाध्य होकर स्वयं पूंजीवादी वर्ग, जहां तक पूंजीवादी अवस्थाओं में यह संभव है, सामाजिक उत्पादक शक्तियों के रूप में उनका अधिकाधिक व्यवहार करता है। औद्योगिक तेजी के दौर में, जव उधार का असीम विस्तार होता है, और उसी तरह मंदी के दौर में जव बड़े-बड़े पूंजीवादी कारोबार चौपट हो जाते हैं, उत्पादन के साधनों की वृहत् राशि के समाजीकरण का वह रूप उत्पन्न होता है, जो हमें विभिन्न प्रकार की ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों में दिखाई देता है। उत्पादन और परिवहन के इन साधनों में से वहुत-से आरंभ से ही इतने विराट होते हैं कि रेलवे की ही तरह, उनमें पूंजीवादी शोषण का कोई अन्य रूप चल ही नहीं सकता। विकास की एक और उन्नत अवस्था में यह रूप भी अपर्याप्त हो जाता है। किसी विशेष देश की किसी विशेष शाखा के बड़े-बड़े उत्पादक उत्पादन का नियमन करने के उद्देश्य से एक 'ट्रस्ट' में, एक संघ में, एकजुट हो

जाते हैं। वे यह निश्चित करते हैं कि कुल कितना उत्पादन करना है, उसे अपने बीच में बांट लेते हैं, और इस प्रकार वे पहले से ही निश्चित विक्री की दर लादते हैं। लेकिन जहां व्यापार मंदा हुआ, इस तरह के ट्रस्ट साधारणतः टूट जा सकते हैं, और इसी कारण वे संघटन के एक और केंद्रीभूत रूप को आवश्यक बना देते हैं। एक विशेष उद्योग, पूरा का पूरा एक विराट ज्वाइंट स्टाक कम्पनी में वदल दिया जाता है, आंतरिक प्रतियोगिता का स्थान, इस एक कम्पनी का आंतरिक एकाधिकार ले लेता है। १८९० में इंगलैंड के क्षार-उत्पादन के साथ यही बात हुई, ४८ बड़े-बड़े कारखानों के एक में मिल जाने के बाद, अब क्षार का सारा उत्पादन एक कम्पनी के हाथ में है, जिसमें ६०,००,००० पौंड की पूंजी लगी है, और जिसका एक विशेष योजना के अनुसार संचालन होता है।

ट्रस्टों में, प्रतियोगिता की स्वतंत्रता ठीक उल्टी चीज़ में यानी एकाधिकार में वदल जाती है और पूंजीवादी समाज का योजनाहीन उत्पादन आनेवाले समाजवादी समाज के योजनाबद्ध उत्पादन के सम्मुख हार मान लेता है। निस्संदेह अभी तक पूंजीपतियों को इससे फ़ायदा ही फ़ायदा है। परंतु अब इस स्थिति में शोषण इतना प्रत्यक्ष है कि उसका अंत निश्चित है। कोई भी राष्ट्र यह सहन नहीं करेगा कि उत्पादन इन ट्रस्टों के हाथ में रहे, और मुट्ठी भर मुनाफ़ाखोर लोग समाज का घोर शोषण करें।

जो भी हो, ट्रस्ट हों या न हों, पूंजीवादी समाज के अधिकारी प्रतिनिधि – राज्य – को अन्ततः उत्पादन का संचालन अपने हाथ में लेना होगा।*

---

*मैं कहता हूं, "लेना होगा"। कारण, जब उत्पादन और परिवहन के साधन सचमुच इतना विकसित हो जाते हैं कि ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों द्वारा प्रबंध उनके लिए अपर्याप्त हो जाता है, और इसलिए जब राज्य

व्यक्तिगत संपत्ति को राज्यीय संपत्ति में बदलने की यह आवश्यकता, सबसे पहले डाक, तार, रेल आदि संव्यवहार और संचार के विशाल संस्थानों में अनुभव की जाती है।

का उन्हें अपने हाथ में लेना, आर्थिक दृष्टि से अनिवार्य हो जाता है, तभी हम यह कह सकते हैं कि चाहे आज का ही राज्य उन्हें अपने हाथ में ले, यह आर्थिक प्रगति है, एक आगे बढ़ा हुआ क़दम है, उत्पादन की तमाम शक्तियों पर समाज के अधिकार की भूमिका है। मगर हाल में जब से बिस्मार्क ने उद्योग-संस्थाओं पर राज्य के स्वामित्व की नीति अपनायी है, तब से एक तरह के नक़ली समाजवाद का उदय हुआ है, जो कभी-कभी पतित होकर बहुत-कुछ चाटुकारिता का रूप ले लेता है और जो झटपट यह फ़तवा दे डालता है कि राज्य द्वारा समस्त स्वामित्व, चाहे वह बिस्मार्क की ही क़िस्म का क्यों न हो, समाजवाद है। अगर राज्य का तम्बाकू के उद्योग का अपने हाथ में लेना समाजवादी है, तो समाजवाद के संस्थापकों में नेपोलियन और मेटरनिक की भी गिनती होनी चाहिए। अगर बेलजियम की सरकार ने अत्यंत साधारण राजनीतिक और आर्थिक कारणों से अपनी मुख्य रेल लाइनों का स्वयं निर्माण किया है, अगर बिस्मार्क ने बिना किसी आर्थिक विवशता के प्रशिया की मुख्य रेल लाइनों को राज्य के नियंत्रण में कर लिया है—सिर्फ़ इसलिए कि युद्ध की अवस्था में वह ज्यादा सहूलियत के साथ उन्हें अपने अधिकार में रख सके, मूक पशुओं की तरह रेल कर्मचारियों से सरकार के लिए वोट दिलवा सके, और खासकर अपने लिए आमदनी का एक ऐसा ज़रिया निकाल सके, जो पार्लमेंट के वोटों पर निर्भर न हो—तो यह किसी भी अर्थ में, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में, जानबूझकर या अनजान में, समाजवादी कार्य नहीं है। अगर ऐसा न हो तो हमें राजकीय तिजारती जहाज़ी कम्पनी को, राजकीय

अगर इन संकटों ने यह दिखा दिया है कि पूंजीवादी वर्ग आधुनिक उत्पादक शक्तियों का नियंत्रण करने में अब और समर्थ नहीं है, तो उत्पादन और परिवहन की बड़ी-बड़ी संस्थाओं के, ज्वाइंट स्टाक कम्पनी, ट्रस्ट और राज्यीय सम्पत्ति के रूप में, बदल जाने से यह जाहिर हो जाता है कि इस काम के लिए पूंजीवादी वर्ग की ज़रूरत भी नहीं है। पूंजीपतियों के सभी सामाजिक कर्तव्य आज वेतनभोगी कर्मचारियों द्वारा संपन्न होते हैं। अब पूंजीपतियों की सामाजिक भूमिका इस बात में ही रह गयी है कि वे नफ़े की रक़म से अपनी जेबें भरें, चेक काटें और शेयर बाज़ार में, जहां एक पूंजीपति दूसरे पूंजीपति की पूंजी पर हाथ साफ़ करता है, जुआ खेलें। पहले, उत्पादन की पूंजीवादी प्रणाली मज़दूरों को बेकार बना देती है। अब वह मज़दूरों की तरह पूंजीपतियों को भी बेकार बना देती है, उन्हें एकदम औद्योगिक कोतल-सेना में तो नहीं, लेकिन अतिरिक्त जनसंख्या की श्रेणी में अवश्य डाल देती है।

परंतु व्यक्तिगत सम्पत्ति के ज्वाइंट स्टाक कम्पनी, ट्रस्ट अथवा राज्यीय सम्पत्ति के रूप में परिवर्तित होने का यह अर्थ नहीं है कि उससे उत्पादक शक्तियों का पूंजीवादी स्वरूप मिट जाता है। ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों और ट्रस्टों के बारे में तो यह ज़ाहिर ही है। और जहां तक आधुनिक राज्य का संबंध है, वह और कुछ नहीं, एक ऐसा संगठन है,

---

चीनी बर्तनों के उद्योग को, और यहां तक कि रेजीमेंट के सिलाई-विभाग को भी समाजवादी संस्था मानना होगा। यही नहीं, फ़्रेडरिक विल्हेल्म तृतीय के राज्यकाल में एक छिपे रुस्तम ने गंभीरतापूर्वक यह प्रस्ताव किया था कि राज्य को वेश्यालयों पर अधिकार कर लेना चाहिए – इस सूरत में हमें इन वेश्यालयों तक को समाजवादी संस्था मानना होगा। (एंगेल्स का नोट)

जिसे पूंजीवादी समाज ग्रहण करता है, ताकि पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली की बाह्य परिस्थितियों को क़ायम रखा जा सके, और मज़दूरों तथा व्यक्तिगत पूंजीपतियों को अनधिकार चेष्टा से उसे बचाया जा सके। आधुनिक राज्य, चाहे उसका स्वरूप कुछ भी हो, मूलतः एक पूंजीवादी मशीन है, वह पूंजीपतियों का राज्य है, समस्त राष्ट्रीय पूंजी की आदर्श-अभिव्यक्ति है। जितना ही वह उत्पादक शक्तियों को अपने हाथ में लेता है, उतना ही वह वास्तव में राष्ट्रीय पूंजीपति बनता जाता है, और उतने ही अधिक नागरिकों का वह शोषण करता है। मज़दूर, मजूरी पर काम करनेवाले मज़दूर, सर्वहारा ही रहते हैं। पूंजीवादी संबंध का अंत नहीं होता, बल्कि कहना चाहिए, उसे चरम सीमा पर पहुंचा दिया जाता है। पर इस सीमा पर पहुंचकर यह संबंध टूट जाता है। उत्पादक शक्तियों पर राज्य का अधिकार हो जाने से संघर्ष का समाधान नहीं हो, परंतु इस परिवर्तन में वह प्रौद्योगिक अवस्थायें छिपी हुई हैं, जिनसे इस समाधान के तत्त्व बनते हैं।

यह समाधान यही हो सकता है कि आधुनिक उत्पादक शक्तियों के सामाजिक स्वरूप को व्यावहारिक रूप में स्वीकार कर लिया जाये और उत्पादन, अधिकार तथा वितरण की प्रणालियों का उत्पादन के साधनों के सामाजिक स्वरूप के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाये। और यह तभी हो सकता है, जब समाज सीधे और प्रत्यक्ष रूप से उत्पादक शक्तियों पर, जो इतनी अधिक विकसित हो चुकी हैं कि पूरे समाज के नियंत्रण में ही रह सकती हैं, अधिकार स्थापित करे। उत्पादन के साधनों तथा उत्पत्ति का सामाजिक स्वरूप आज उत्पादकों पर प्रतिघात कर रहा है, समय-समय पर वह उत्पादन और विनिमय को छिन्न-भिन्न कर देता है, और प्रकृति के एक अंध, अनिवार्य और विध्वंसक नियम की तरह अपना असर डालता है। लेकिन जब समाज उत्पादक शक्तियों

को अपने हाथ में ले लेगा, तब उत्पादक उत्पादन के साधनों और उत्पत्ति के सामाजिक स्वरूप का उपयोग, उनकी प्रकृति की पूरी समझदारी के साथ करेंगे, और तब वह विश्रृंखल और समय-समय पर विघटन का कारण न रहकर स्वयं उत्पादन का सबसे शक्तिशाली उत्तोलक बन जायेगा।

ठीक प्राकृतिक शक्तियों की ही तरह, सक्रिय सामाजिक शक्तियां भी जब तक हम उन्हें समझते नहीं और उनका ध्यान नहीं रखते, अंध, अनिवार्य और विध्वंसक रूप से कार्य करती हैं। लेकिन एक बार जब हम उन्हें समझ लेते हैं, उनकी क्रिया, उनकी दिशा, उनके परिणामों को ग्रहण कर लेते हैं, तब उन्हें अधिकाधिक अपनी इच्छा के अधीन करना, और उनके द्वारा अपने उद्देश्यों को प्राप्त करना, स्वयं हमारे ही ऊपर निर्भर हो जाता है। आजकल की विराट उत्पादक शक्तियों पर यह बात खास तौर पर लागू होती है। जब तक हम इन क्रियात्मक सामाजिक साधनों के स्वभाव और चरित्र को समझने से हठपूर्वक इनकार करते हैं—और यह समझ पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली और उसके हामियों की फ़ितरत के खिलाफ़ है—तब तक यह शक्तियां, जैसा हम ऊपर तफ़सील से समझा आये हैं, हमारे खिलाफ़, हमारे बावजूद काम करती हैं, तब तक यह हमारे ऊपर हावी रहती हैं।

परन्तु एक बार जहां उनकी प्रकृति समझ ली गयी, वह एक साथ काम करनेवाले उत्पादकों के वश में आ जाती है, वह भूत की तरह हमारे सिर पर सवार नहीं रहती बल्कि हमारी इच्छा की चेरी बन जाती हैं। उनमें वही अंतर हो जाता है, जो आंधी के साथ गिरनेवाली बिजली की विध्वंसक शक्ति में और तार तथा वोल्टीय वृत्त में इस्तेमाल होनेवाली नियंत्रित बिजली में है, जो अंतर दावानल और मनुष्य की सेवा करनेवाली अग्नि में है। आजकल की उत्पादक शक्तियों के वास्तविक स्वरूप को

अन्ततः स्वीकार कर लेने के बाद, उत्पादन की सामाजिक अराजकता के स्थान पर, पूरे समाज और समाज के प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकताओं के अनुसार, एक निश्चित योजना के आधार पर उत्पादन का सामाजिक नियमन आरंभ होता है। और तब पूंजीवादी अधिकार-पद्धति, जिसमें उत्पत्ति पहले उत्पादक को, और फिर अधिकारकर्ता को वशीभूत करती है, के स्थान पर उत्पादन के आधुनिक साधनों के स्वरूप पर आधारित, उत्पत्ति पर अधिकार की एक नयी पद्धति स्थापित होती है—एक ओर उत्पादन की स्थिति तथा वृद्धि के साधन के रूप में उत्पत्ति पर सीधे-सीधे समाज का अधिकार और दूसरी ओर जीविका तथा आनंद के साधन के रूप में, उत्पत्ति पर सीधे-सीधे व्यक्ति का अधिकार।

जब पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली अधिकांश जनसंख्या को अधिकाधिक पूर्णरूप से सर्वहारा बना देती है वह, वह शक्ति भी उत्पन्न करती है, जिसे अनिवार्य रूप से यह क्रांति पूरी करनी है, और नहीं तो मिट जाना है। जब यह प्रणाली उत्पादन के विराट साधनों को, जो पहले से ही सामाजिक रूप ग्रहण कर चुके हैं, अधिकाधिक राज्यीय संपत्ति में बदल देती है, वह स्वयं इस क्रांति को पूरा करने का रास्ता दिखा देती है। **सर्वहारा वर्ग राजनीतिक सत्ता पर अधिकार करता है, और उत्पादन के साधनों को राज्यीय साधनों में बदल देता है।**

परंतु जब वह ऐसा करता है, तब वह सर्वहारा के रूप में अपने अस्तित्व को समाप्त कर देता है, सभी वर्ग-विभेदों और विरोधों को समाप्त कर देता है, और राज्य के रूप में राज्य को भी समाप्त कर देता है। अभीं तक समाज वर्ग-विरोधों पर आधारित था, इसलिए उसे राज्य की आवश्यकता थी। अर्थात् उसे एक ऐसे संगठन की आवश्यकता थी, जो एक विशेष वर्ग का, अपने समय के शोषक वर्ग का संगठन था, एक

ऐसा संगठन, जिसका उद्देश्य था उत्पादन की वर्तमान अवस्थाओं में वाह्य हस्तक्षेप न होने देना, और इसलिए विशेष रूप से जिसका उद्देश्य था शोषित वर्गों को जबर्दस्ती उत्पीड़न की उस अवस्था में रखना, जो अपने समय की उत्पादन-प्रणाली (दासता, अर्द्ध-दासता, मजूरी-मेहनत) के अनुरूप हो। राज्य पूरे समाज का अधिकारी प्रतिनिधि था, उसका संयुक्त प्रत्यक्ष और साकार रूप था। परंतु वह पूरे समाज का प्रतिनिधि उसी हद तक था, जिस हद तक वह उस वर्ग का राज्य था, जो स्वयं उस समय पूरे समाज का प्रतिनिधित्व करता था—प्राचीन काल में दास रखनेवाले नागरिकों का, मध्ययुग में सामंती अधिपतियों का, और हमारे जमाने में पूंजीवादियों का राज्य। अन्ततः जव वह सचमुच पूरे समाज का वास्तविक प्रतिनिधि होता है, तव वह अनावश्यक भी हो जाता है। जब ऐसा सामाजिक वर्ग ही न रहे जिसे अधीन रखना है, जब वर्ग-शासन और उत्पादन में फैली आजकल की अराजकता के आधार पर अस्तित्व के लिए चलनेवाले व्यक्तिगत संघर्ष का अंत हो जाये और इनसे पैदा होनेवाली टक्करें और ज्यादतियां भी दूर कर दी जायें, तव समाज में ऐसे लोग ही नहीं रह जाते जिनका दमन आवश्यक हो, और तव एक विशेष दमनकारी शक्ति की, राज्य की, आवश्यकता ही नहीं रहती। राज्य जब समाज के नाम पर उत्पादन के साधनों को अपने अधिकार में लेता है, तव यह उसका पहला काम होता है, जिसके वल पर वह अपने को पूरे समाज के प्रतिनिधि के रूप में स्थापित करता है। लेकिन राज्य के रूप में यही उसका अंतिम स्वतंत्र कार्य भी होता है। एक क्षेत्र के वाद दूसरे क्षेत्र में, सामाजिक संवंधों में राज्य का हस्तक्षेप अनावश्यक हो जाता है, और फिर धीरे-धीरे आप से आप समाप्त हो जाता है। व्यक्तियों पर शासन का स्थान, वस्तुओं का प्रवंध और उत्पादन की प्रक्रियाओं का संचालन ले लेता है। राज्य को 'भंग' नहीं किया जाता,

वह लोप हो जाता है। इससे यह समझा जा सकता है कि 'स्वाधीन राज्य' के नारे का क्या मूल्य है, आंदोलनकारियों द्वारा कभी-कभी इस नारे का उपयोग कहां तक उचित है, और अन्ततः वैज्ञानिक दृष्टि से वह कहां तक अपर्याप्त है। और इससे यह भी समझा जा सकता है कि तथाकथित अराजकतावादियों द्वारा राज्य को एकदम खत्म कर देने की मांगों का क्या मूल्य है।

इतिहास में पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली के आविर्भाव के बाद से, कुछ व्यक्तियों ने और सम्प्रदायों ने भी अक्सर भविष्य के एक आदर्श के रूप में उत्पादन के सभी साधनों पर समाज के अधिकार की न्यूनाधिक अस्पष्ट कल्पना की है। परंतु यह संभव तभी हो सकता था, ऐतिहासिक रूप से अनिवार्य तभी हो सकता था, जब उसकी प्राप्ति के लिए वास्तविक परिस्थितियां मौजूद हों। समाज की हर प्रगति की तरह, यह भी कुछ नयी आर्थिक अवस्थाओं के कारण ही साध्य हुआ है, इसलिए नहीं कि लोगों ने यह समझ लिया है कि वर्गों का अस्तित्व न्याय, समानता आदि आदर्शों के विपरीत है, केवल इसलिए नहीं कि लोग इन वर्गों को खत्म करने के लिए तैयार हैं। समाज का शोषक और शोषित वर्गों में, शासक और उत्पीड़ित वर्गों में बंटवारा, इस बात का आवश्यक परिणाम था कि पुराने ज़माने में उत्पादन का जो विकास हुआ था, वह सीमित और अपर्याप्त था। जब तक कुल सामाजिक श्रम से होनेवाली उत्पत्ति, बस उतनी ही थी, या उससे ज़रा ही ज़्यादा थी, जितनी सबके अस्तित्व के लिए नितांत आवश्यक थी, और इसलिए जब तक समाज के अधिकांश सदस्यों का पूरा या क़रीब-क़रीब पूरा समय परिश्रम करने में ही बीतता था, तब तक समाज का वर्गों में विभाजित रहना अनिवार्य था। समाज के इस अधिकांश भाग के, श्रम के क्रीत दासों के साथ ही एक नया वर्ग उत्पन्न हुआ, जिसे प्रत्यक्ष रूप से उत्पादन के लिए परिश्रम नहीं करना

पड़ता था। यह वर्ग समाज के सामान्य कार्य-कलाप की देखभाल करता था, श्रम, राजकीय कार्य, क़ानून, विज्ञान, कला इत्यादि का प्रबंध और संचालन करता था। इस तरह हम देखते हैं कि श्रम-विभाजन का नियम ही वर्ग-विभाजन का आधार है। परंतु इसका यह मतलव नहीं है कि वर्गों का यह बंटवारा हिंसा, लूट, जाल और फ़रेब के तरीक़ों से नहीं हुआ। इसका यह मतलव नहीं है कि शासक वर्ग ने समाज पर एक वार हावी होने के बाद, श्रमिक जनता को दवाकर, अपनी शक्ति को एकजुट नहीं किया, या कि उसने समाज के अपने नेतृत्व को जनता के और भी कठोर शोषण का रूप नहीं दिया।

लेकिन अगर इसका मतलव यह है कि वर्गों के विभाजन का एक ऐतिहासिक औचित्य है, तो यह औचित्य एक निश्चित युग के लिए ही, और निश्चित परिस्थितियों में ही है। उसका आधार उत्पादन का अपर्याप्त विकास था। आधुनिक उत्पादक शक्तियों का संपूर्ण विकास इस विभाजन को मिटा देगा। और वास्तव में समाज से वर्ग मिट जायें, इसके पहले यह आवश्यक है कि समाज का ऐतिहासिक विकास इस हद तक हो जाये कि इस या उस शासक वर्ग का ही नहीं, किसी भी शासक वर्ग का अस्तित्व, और इसलिए स्वयं वर्ग-विभेद का अस्तित्व, एक विगत युग की वस्तु मालूम पड़ने लगे। इसलिए पहले यह आवश्यक है कि उत्पादन का विकास इस हद तक हो जाये कि समाज के एक विशेष वर्ग द्वारा उत्पादन के साधनों और उत्पत्ति पर अधिकार, और इसके साथ ही राजनीतिक प्रभुत्व, सांस्कृतिक एकाधिकार और वौद्धिक नेतृत्व, अनावश्यक ही नहीं, प्रत्युत आर्थिक, राजनीतिक और वौद्धिक दृष्टि से विकास के लिए वाधक सिद्ध हो जायें।

विकास के इस विंदु पर हम पहुंच गये हैं। पूंजीवादी वर्ग का राजनीतिक और बौद्धिक दिवालियापन अब खुद उससे ही छिपा नहीं है।

उसका आर्थिक दिवालियापन नियमित रूप से हर दसवें साल दिखाई देता है। हर संकट में ऐसी स्थिति होती है कि समाज अपनी उत्पादक शक्तियों और उत्पत्ति का उपयोग नहीं कर पाता, और उन्हीं के बोझ के नीचे सांस भी नहीं ले पाता। उत्पादकों के पास उपभोग करने को कुछ नहीं है, क्योंकि उपभोक्ताओं की कमी है—इस विचित्र असंगति के सामने समाज अपने को असहाय पाता है। उत्पादन के साधनों की प्रसार-शक्ति, पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली ने उनके ऊपर जो बंधन लगाये थे, उन्हें तोड़ डालती है। इन बंधनों से उनकी मुक्ति, उत्पादक शक्तियों के अविच्छिन्न और निरंतर तीव्र होते हुए विकास की, और इसके साथ ही स्वयं उत्पादन की वस्तुतः असीम वृद्धि की पहली शर्त है। इतना ही नहीं। उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार होने से आज उत्पादन पर जो कृत्रिम प्रतिबंध लगे हुए हैं, वही नहीं मिटते, उत्पादक शक्तियों और उत्पत्ति की आज जो निश्चित रूप से बर्बादी होती है, वह भी दूर हो जाती है। आज तो यह बर्बादी उत्पादन के साथ अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है, और जब संकट आता है, वह अपनी चरम सीमा पर पहुंच जाती है। और भी, उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार आज के शासक वर्गों और उनके राजनीतिक प्रतिनिधियों की मूर्खतापूर्ण विलासिता को ख़त्म कर देता है, और इस तरह, उत्पादन के साधनों और उत्पत्ति की एक बड़ी राशि को समाज के लिए उन्मुक्त कर देता है। आज इतिहास में पहली बार इस बात की संभावना उत्पन्न हो गयी है कि सामाजिक उत्पादन के द्वारा समाज के प्रत्येक सदस्य को एक ऐसा जीवन उपलब्ध हो सके, जो भौतिक दृष्टि से यथेष्ट सम्पन्न हो और दिन-दिन ज्यादा संपन्न होता जाये, यही नहीं, एक ऐसा जीवन उपलब्ध हो, जिसमें हर व्यक्ति की शारीरिक और मानसिक शक्तियों का उन्मुक्त विकास निश्चित हो।

इस बात की संभावना पहली वार उत्पन्न हुई है, लेकिन हुई है अवश्य। *

उत्पादन के साधनों पर समाज का अधिकार हो जाने से, माल-उत्पादन का और साथ ही उत्पादक के ऊपर उत्पत्ति के प्रभुत्व का अंत हो जाता है। सामाजिक उत्पादन में अराजकता की जगह एक निश्चित, व्यवस्थित संगठन क़ायम होता है। व्यक्तिगत जीवन के लिए संघर्ष ग़ायब हो जाता है। और तब एक मानी में मनुष्य पहली वार शेष प्राणि-जगत से अलग होता है और जीवन की निरी पाशविक अवस्थाओं से निकलकर यथार्थ रूप से मानवीय अवस्थाओं में प्रवेश करता है। जीवन की जो अवस्थायें मनुष्य को घेरे हैं और जो अभी तक उसपर शासन करती आयी हैं, उनका संपूर्ण क्षेत्र मनुष्य के अधिकार और नियंत्रण में आ जाता है। मनुष्य पहली वार प्रकृति का वास्तविक और सचेत रूप से स्वामी हो जाता है, क्योंकि अब वह अपने सामाजिक संगठन का स्वामी बन गया

---

*पूंजीवादी दवाव के बावजूद उत्पादन के आधुनिक साधनों की विराट प्रसार-शक्ति का क़रीव-क़रीव सही अन्दाज़ कुछ आंकड़ों से मिल सकता है। मि० गिफ़ेन के अनुसार ब्रिटेन और आयरलैंड का कुल धन

१८१४ में २२० करोड़ पौंड,
१८६५ में ६१० करोड़ पौंड, और
१८७५ में ८५० करोड़ पौंड था।

संकट-काल में उत्पादन के साधनों तथा उत्पत्ति की वर्वादी की एक मिसाल यह है कि द्वितीय जर्मन औद्योगिक सम्मेलन में (वर्लिन, २१ फ़रवरी, १८७८) दिये गये आंकड़ों के अनुसार १८७३-७८ के संकट में जर्मनी के केवल लोहा उद्योग में होनेवाला कुल घाटा २,२७,५०,००० पौंड के वरावर था। (एंगेल्स का नोट)

है। उसकी अपनी सामाजिक क्रियाओं के नियम, जो प्रकृति के नियमों की तरह अभी तक आदमी के मुक़ावले में खड़े थे, उससे वाहर थे, उसके ऊपर हावी थे, अब उनका पूरी समझदारी के साथ उपयोग किया जायेगा, और इस तरह आदमी उनके ऊपर क़ावू पायेगा। मनुष्य का अपना सामाजिक संगठन, जो अभी तक प्रकृति और इतिहास द्वारा लादी गयी एक अनिवार्य आवश्यकता के रूप में उसके मुक़ावले में खड़ा था, अब उसकी अपनी स्वतंत्र क्रिया का परिणाम बन जाता है। जिन वाह्य, वस्तुगत शक्तियों ने अभी तक इतिहास पर शासन किया था, अब वे स्वयं मनुष्य के नियंत्रण में आ जाती हैं। इसी समय से मनुष्य स्वयं उत्तरोत्तर सचेत रूप से अपने इतिहास का निर्माण करेगा। इसी समय से मनुष्य द्वारा परिचालित सामाजिक क्रियाओं के परिणाम मुख्यतया और निरंतर वढ़ती हुई मात्रा में उसकी इच्छा के अनुरूप होंगे। यह मनुष्य का विवशता के राज से स्वतंत्रता के राज में आरोहण है।

ऐतिहासिक विकास की जो रूपरेखा हमने दी है, उसका सारांश यह है: (१) **मध्ययुगीन समाज** – छोटे पैमाने पर व्यक्तिगत उत्पादन। उत्पादन के साधन व्यक्तिगत उपयोग के अनुरूप वने थे, इसलिए वे आदिम, भद्दे, छोटे-मोटे और क्रिया-शक्ति में अत्यन्त सीमित थे। उत्पादन सीधे उपभोग के लिए होता था, स्वयं उत्पादक के उपभोग के लिए, या उसके सामंती स्वामी के। केवल जहां इस उपभोग के ऊपर उत्पादन का एक भाग वचा रहता था, यह अतिरिक्त उत्पत्ति वेंचने के लिए दी जाती थी, और विनिमय में उसका प्रवेश होता था। इसलिए माल-उत्पादन अभी अपनी शैशव अवस्था में ही था। परंतु पूरे समाज के उत्पादन की अराजकता वीज रूप में अभी से उसके भीतर निहित थी।

(२) **पूंजीवादी क्रान्ति** – उद्योग का रद्दोवदल, पहले साधारण सहयोग से, और फिर कारख़ानों में उत्पादन होने से। अभी तक विखरे

हुए उत्पादन के साधनों का बड़ी बड़ी कर्मशालाओं में एकत्र होना। फलस्वरूप उनका उत्पादन के व्यक्तिगत साधनों से सामाजिक साधनों के रूप में परिवर्तन। लेकिन यह एक ऐसा परिवर्तन है, जो कुल मिलाकर विनिमय-पद्धति को प्रभावित नहीं करता। उत्पत्ति पर अधिकार की पुरानी प्रणालियां चलती रहीं। समाज में पूंजीपति का आविर्भाव होता है। उत्पादन के साधनों के मालिक की हैसियत से वह उत्पत्ति को भी अपने अधिकार में कर लेता है, और उसे माल का रूप देता है। उत्पादन एक सामाजिक कार्य बन गया। विनिमय और उत्पत्ति पर अधिकार व्यक्तिगत कार्य, व्यक्तियों के ही कार्य बने रहते हैं। पूंजीपति व्यक्तिगत रूप से सामाजिक उत्पत्ति पर अधिकार जमा लेता है। यही वह मौलिक असंगति है, जिससे और सब असंगतियां उत्पन्न होती हैं, जिनके वृत्त में हमारा वर्तमान समाज घूमता है, और जिन्हें आधुनिक उद्योग प्रकाश में ले आता है।

(क) उत्पादक का उत्पादन के साधनों से विच्छेद। मज़दूर को ज़िन्दगी भर मज़दूरी करने की सजा। सर्वहारा और पूंजीवादी वर्ग का विरोध।

(ख) जिन नियमों के अनुसार माल-उत्पादन होता है, उनका बढ़ता हुआ ज़ोर, धीरे-धीरे उत्पादन पर उनका छा जाना। अनियंत्रित प्रतियोगिता। अलग-अलग कारखानों में उत्पादन के सामाजिक संगठन और संपूर्ण रूप से समाज के उत्पादन की अराजकता में विरोध।

(ग) एक ओर मशीनों की बराबर तरक़्क़ी, जो प्रतियोगिता के कारण प्रत्येक क़ारखानेदार के लिए अनिवार्य हो जाती है, और इसके साथ ही साथ मज़दूरों का निरंतर बढ़ती हुई संख्या में विस्थापित होना। औद्योगिक कोतल-सेना। दूसरी ओर उत्पादन का असीम विस्तार। प्रतियोगिता के अंतर्गत यह भी हर कारख़ानेदार के लिए अनिवार्य बन जाता है। दोनों ही ओर उत्पादक शक्तियों का अभूतपूर्व विकास, मांग से अधिक पूर्ति, अतिउत्पादन,

बाज़ार का माल से पट जाना, हर दसवें वर्ष आर्थिक संकट, दूषित वृत्त—एक ओर उत्पादन के साधनों और उत्पत्ति की अधिकता, और दूसरी ओर जीविका के साधनों से वंचित वेकार मज़दूरों की अधिकता। परंतु उत्पादन और सामाजिक समृद्धि के ये दो उपकरण एक साथ काम नहीं कर पाते, क्योंकि पूंजीवादी उत्पादन-प्रणाली के अंतर्गत उत्पादक शक्तियां तव तक काम नहीं कर सकतीं, और उत्पत्ति तव तक चल नहीं हो सकती, जब तक उन्हें पहले पूंजी का रूप न दे दिया जाये—लेकिन यह उनकी प्रचुरता के ही कारण संभव नहीं हो पाता। इस असंगति ने एक निरर्थक रूप ले लिया है। **उत्पादन की प्रणाली विनिमय-पद्धति के ख़िलाफ़ विद्रोह करती है।** पूंजीवादी वर्ग स्वयं अपनी सामाजिक उत्पादक शक्तियों का प्रवंध करने में अयोग्य ठहराया जाता है।

(घ) उत्पादन-शक्तियों के सामाजिक स्वरूप को आंशिक रूप से स्वीकार करने के लिए पूंजीपतियों को भी वाध्य होना पड़ता है। उत्पादन और परिवहन की वड़ी-वड़ी संस्थाओं का, पहले ज्वाइंट स्टाक कम्पनियों के, फिर ट्रस्टों के, और फिर राज्य के अधिकार में आ जाना। यह प्रमाणित हो जाता है कि पूंजीवादी वर्ग नितांत अनावश्यक है। उसके सभी सामाजिक कर्तव्य अव वेतनभोगी कर्मचारियों द्वारा संपादित होते हैं।

(३) सर्वहारा क्रान्ति—विरोधों का समाधान। सर्वहारा वर्ग सार्वजनिक सत्ता पर अधिकार कर लेता है, और इसके द्वारा वह उत्पादन के इन सामाजिक साधनों को वदल डालता है, पूंजीवादी वर्ग के हाथ में से निकलकर अव वे सार्वजनिक सम्पत्ति बन जाते हैं। उत्पादन के साधनों ने अभी तक पूंजी का स्वरूप ग्रहण कर रखा था, लेकिन अव सर्वहारा वर्ग उनके इस स्वरूप को नष्ट कर देता है, और इस प्रकार उनके सामाजिक स्वरूप के विकास को संपूर्ण रूप से मुक्त कर देता है। अव से एक पूर्वनिश्चित योजना के अनुसार सामाजिक उत्पादन संभव हो जाता है। उत्पादन का

विकास समाज के विभिन्न वर्गों के अस्तित्व को निरर्थक बना देता है। जैसे-जैसे सामाजिक उत्पादन से अराजकता ग़ायब होती जाती है, वैसे-वैसे राज्य का राजनीतिक अधिकार भी समाप्त होता जाता है। मनुष्य अन्ततः सामाजिक संगठन की अपनी पद्धति का स्वामी होता है, इसके साथ ही वह प्रकृति का शासक और स्वयं अपना स्वामी, स्वतंत्र होता है।

सर्वव्यापी मुक्ति के इस कार्य को पूरा करना आधुनिक सर्वहारा वर्ग का ऐतिहासिक कर्तव्य है। इस कार्य की ऐतिहासिक अवस्थाओं को और इस तरह इस कार्य की प्रकृति को, पूरी तरह समझना, और आज के जिस पीड़ित सर्वहारा वर्ग को यह महत्वपूर्ण कार्य पूरा करना है, उसे इसके महत्व और इसकी अवस्थाओं का संपूर्ण ज्ञान देना—यह सर्वहारा आंदोलन की सैद्धान्तिक अभिव्यक्ति का, वैज्ञानिक समाजवाद का कर्तव्य है।

एंगेल्स द्वारा सन् १८७७ में लिखित। १८८० में पेरिस में फ़्रांसीसी भाषा में, १८८२ में ज़ूरिच और १८९१ में बर्लिन में जर्मन में और १८९२ में लंदन में अंगरेज़ी में स्वतंत्र पुस्तिका के रूप में प्रकाशित।

१८९२ के अधिकृत अंगरेज़ी संस्करण के पाठ के अनुसार अनूदित।

नाम-सूची

अ

आ

ए

ओ

क

कार्लाइल (Carlyle), टामस (१७९५-१८८१) : अंगरेज़ इतिहासकार और आदर्शवादी दार्शनिक, कंज़रवेटिव, उन्नीसवीं शताब्दी की पांचवीं दशाब्दी में पैंफ़लेट लिखकर अंगरेज़ पूंजीवादियों की आलोचना की – ५१।

कालिंस (Collins), ऐंटनी (१६७६-१७२९) : अंगरेज़ भौतिकवादी दार्शनिक – १४।

कावर्ड (Coward), विलियम (१६५७-१७२५): अंगरेज़ भौतिकवादी दार्शनिक तथा डाक्टर – १४।

कैलविन (Calvin), जान (१५०९-१५६४) : सुधार-आन्दोलन का एक विचारक, कैलविनवाद नामक धार्मिक आन्दोलन का नेता – २४ – २५।

कोवालेव्स्की (Ковалевский), मक्सीम मक्सीमोविच (१८५१-१९१६) : रूसी समाजशास्त्री, न्यायशास्त्री तथा इतिहासकार, प्राचीन गण-संबंधों की अपनी खोजों के लिए विख्यात – ९।

क्रामवेल (Cromwell) आलिवर (१५९९-१६५८) : १७ वीं शताब्दी की अंगरेज़ी पूंजीवादी क्रांति में एक महत्वपूर्ण व्यक्ति, १६५३ से इंगलैंड के लार्ड प्रोटेक्टर (राज्याभिभावक) – २५।

ग

गिफ़ेन (Giffen), राबर्ट (१८३७-१९१०) ; अंगरेज़ पूंजीवादी अर्थशास्त्री तथा अंकशास्त्री – २०८।

च

चार्ल्स प्रथम (१६००-१६४९) : इंगलैंड के बादशाह (१६२५ से १६४८ तक) – २५।

ड

डंस स्कोटस (Duns Scotus), जोहान्नस (१२६५-१३०८) : सेंट फ़्रांसिस के अनुयायी एक ईसाई भिक्षु, अंगरेज़ स्कोलास्टिक दर्शन के उत्तरकालीन प्रतिनिधियों में से एक – ११।

द

न

प

फ

ब

म

Ф. ЭНГЕЛЬС

РАЗВИТИЕ СОЦИАЛИЗМА ОТ УТОПИИ К НАУКЕ

4